पूर्ण स्वतन्त्रता की राह

व्याख्याता
उपाचार्य पूज्यश्री गणेशीलालजी महाराज

सम्पादक
शान्तिचन्द्र मेहता, एम ए एल एल बी
साहित्यरत्न

प्रकाशक
सम्यक् ज्ञान मन्दिर
कलकत्ता

प्रकाशक
सम्यक् ज्ञान मन्दिर
८७, धर्मतल्ला स्ट्रीट
कलकत्ता १३

प्राप्तिस्थान
श्री जैन जवाहिर मित्र मण्डल
कपडा बाजार
ब्यावर (अजमेर)

भीखमचन्द अभाणी
दशाणियों का चौक
बीकानेर

प्रथमावृत्ति
मूल्य २)
पौष शुक्ला ११, संवत् २०१३

मुद्रक
मेहता फाइन आर्ट प्रेस
२०, बालमुकुन्द मक्कर रोड,
कलकत्ता ७

प्रकाशकीय

महाश्रमण दीर्घ तपस्वी उपाचार्य श्री गणेशीलालजी म० द्वारा विभिन्न स्थानों पर दिये गये व्याख्यानों का यह सग्रह प्रस्तुत करते हुए मैं अत्यन्त प्रसन्नता एव गौरव अनुभव कर रहा हू। अपने दीर्घ सयमी जीवन में उपाचार्य द्वारा सहस्रों व्याख्यान दिये गये है, जिनसे लाखों व्यक्ति प्रभावित एव अनुप्राणित हुए है। सहस्रों को नई दिशा एव चेतना का ज्ञान हुआ है परन्तु ये व्याख्यान बहुमूल्य निधि है तथा भावी सतति के लिये अमूल्य थाती है, इस ओर समाज के किसी भी व्यक्ति का ध्यान नहीं गया। परिणामस्वरुप आपके व्याख्यानोंका सग्रह एव प्रकाशन नहीं हो सका। यह सचमुच आश्चर्य एव दुख का विषय है।

उपाचार्यश्री नामलिप्सा से सर्वथा दूर रहते है अत आपकी दृष्टि सर्वदा निषेधात्मक ही रही परन्तु वह वाणी जिसमें गहन चिन्तन एव मनन निहित हो, जो स्व पर की कल्याणकारक हो उसे तो समाज हित के लिये सुरक्षित रखना ही होगा। यही सोच कर प्रस्तुत व्याख्यान सग्रह प्रकाशित किया गया है। मैं प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादक महोदय को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इस ओर प्रथम ध्यान देकर इन बहुमूल्य व्याख्यानों का सग्रह एव सम्पादन किया। उपाचार्यश्री द्वारा दिये गये व्याख्यानों का सग्रह करने का ध्यान यदि उनके समीपवर्ती

मुनिगण रखते तो हमारे पास अद्‌भुत ज्ञान का भडार होता और शायद अब तक कितने ही भाग प्रकाशित हो जाते।

प्रस्तुत व्याख्यानों में मानव जीवन के सभी पहलुओं एव समस्याओं पर नवीन दृष्टि से विचार किया गया है। आजके उत्पीडित एव शोषित मानव को शान्ति की राह दिखाई गई है और युद्ध एवं दैन्य से सत्रस्त जगत् को शान्ति का सदेश दिया गया है। व्याख्यानों को पढने से यह बात ज्ञात हो जायगी।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक श्रीयुत शान्तिचन्द्रजी मेहता एम ए एल एल बी साहित्यरत्न एक सफल वकील पत्रकार व कार्यकर्ता हैं। साप्ताहिक ललकार के सम्पादक है।

आपने ग्रन्थ का सम्पादन यद्यपि अपनी पूर्ण सूझबूझ तथा योग्यता से किया है फिर भी यदि कहीं कोई भाषा सम्बन्धी त्रुटि रह गई हो तो वह सम्पादक महोदय द्वारा सभव है उपाचार्यश्री द्वारा नहीं।

यदि समाज ने प्रस्तुत ग्रन्थ का स्वागत किया तो हम अपने श्रम को सफल समझेंगे। हमें आशा है यह सग्रह आबाल वृद्ध सबके लिये उपयोगी होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना सुपरिचित पडित मुनि श्री सुशील कुमारजी म० साहित्यरत्न शास्त्री ने हमारे अनुरोध को स्वीकार कर लिखी है, एतदर्थ हम आपके आभारी है।

८७, धर्मतल्ला स्ट्रीट
कलकत्ता

सरदारमल कांकरिया
मत्री,
सम्यक् ज्ञान मन्दिर

दो शब्द

विश्व के महापुरुषों से मानव जाति को वाणी की विरासत ही सर्वोत्कृष्ट मूल्यवान समृद्धि प्राप्त हुई है। यद्यपि कला, अनुभव, आविष्कार आदि अन्य भी विरासतें संसार के लिये कम उपयोगी नहीं है, उनका भी अपने २ क्षेत्र में विशिष्ट महत्त्व और मूल्य है, किन्तु इन सबका सम्बन्ध मानवात्मा और प्रकृति दोनों से बराबर रहा है। कलाकार की कला को भी मानव की सर्वाधिक श्रेष्ठ कृति कहा जा सकता है—परन्तु कला के क्षेत्र में अध्यापन का गौरव प्रकृति ने सुरक्षित रखा है। मानव समाज में कला गुरु प्रकृति है, मानव उसका चितेरा है, शिष्य है किन्तु गुरु नहीं।

और ये समस्त आविष्कारों का जगत् केवल प्रकृति के प्रदत्त उपकरणों की उपयोगी साजसज्जा मात्र है। इसमें मानवात्मा का योग है अंश नहीं।

माना कि अनुभव मनुष्य की सबसे बड़ी थाती है किन्तु अपने लिये वाणी का सहारा लिये बिना अनुभव गूंगे का गुड़ है, जनता का आस्वाद नहीं। सत्य की शोध में आत्मा का सत्य सम्वेदन ही अनुभव कहा जा सकता है किन्तु अनुभव, कला, समृद्धि और आविष्कार सभी से बढ़कर आत्म मथन से उद्भूत वाणी है जो महामानव द्वारा समाज को वरदान रूप में

प्राप्त होती है। मुह बाया और राग आया की तरह वाणी को गुनगुनाना या बुलबुलाना नहीं कहा जा सकता। वाणी का महात्म्य वाणी के शाश्वत सत्य अभिव्यञ्जन, हित मित तथा पथ प्रदर्शन में छुपा हुआ है। इसीलिये साधारण मानव की वाणी से सन्तों की वाणी में चमत्कार रहता है और प्रस्तुत सग्रह तो सन्तों के शासक, सफल नायक उपाचार्यश्री जी महा राज की वाणी का है अत इसका मूल्य हमारे लिये अधिक होगा इसमें जरा भी सन्देह नही है।

वाणी वह विरासत है जो देकर ली नही जा सकती—परिवर्तित नहीं की जा सकती। कितनी महत्त्वपूर्ण है वाणी की विरासत। सचमुच वाणी आत्मा का सगीत है, समूचे ससार पर वाणी की अक्षौहिणी सेना का प्रभुत्त्व रहा है। उत्थान और पतन के पहिये को वाणी गति देती आई है। युद्ध और शान्ति के लिये वाणी ही विष के ववण्डर और अमृत के मेघ उमड़ाती रही है। यही वाणी है जिसके पीछे आस्रव और सवर की समस्त प्रमत्त और अप्रमत्त भावनाए चिपकी रही है। उसी वाणी का सग्रह कांकरिया जी की ओर से भेंट दिया जा रहा है और यह और भी आनन्द की बात है।

इस सग्रह में तीन विशेषताए है। पहली विशेषता इसकी यह है कि—

समस्त व्याख्यान—भूत के अनुभव, भविष्य के उजले स्वप्न और वर्तमान की कठोर उलझी समस्याओं के समाधान से

भरपूर है। कहीं भी ग्राह्य त्याज्य नहीं, अनुपयोगी गृहीत नहीं है। ठीक व्यक्ति से समष्टि तक, सामाजिकता से आध्यात्मिकता तक और लोक से परलोक तक के समूचे प्रश्नों का उत्तर पाठक को आनन्द के साथ मिलेगा। इतना ही नहीं साथ में ' सत्पुरुषार्थ करो उठो" द्वारा योगीराज कृष्ण के उन प्रेरणा भरे सन्देशों का उद्बोधन भी मिलेगा, जो पार्थ के प्रति सीधा सम्बन्ध जोडते हुए आजके इस आधिभौतिक पाश से प्रपीडित मानव जाति को नई चेतना देने में सामर्थ्य रखता है। गीता के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है—

"क्लैव्य मा स्म गम पार्थ नैतत्त्वयि-उपपद्यते"—नपुसकता को छोड कर परम पुरुषार्थ की सीढी पर बढ जाओ अर्जुन! तुम्हारे जैसे बहादुर कर्मवीरों के लिये इस तरह उदासीन होना उचित नहीं लगता।

"दु ख मत दो दु ख नही होंगे", "शोषण का मूल", भगवान् महावीर के दिव्य सन्देशों का दोहन है।

"मानव समाज में नारी" लक्ष २ वर्षों से दास, पराजित नारी के अन्तस्तल में छुपे हुये तीर्थङ्करत्व का अभिव्यञ्जन है। पराधीन नारी के लिये आश्वासन और फैशन परस्त तितली नारी के लिये लक्ष्योद्बोधन तथा असहाय अबला के लिये सबल प्रदान किया गया है।

दूसरी विशेषता—इस सग्रह की यह रही है कि जैनागमों के विशिष्ट दृष्टिकोणों को सर्वत्र विशालता के साथ प्रतिपादित

किया जा सकता है किन्तु मेरा तो पाठकों को प्रवचन जानने से पहले विषय, भाव व वक्ता के प्रति परिचय मात्र देना है।

आशा है इस सग्रह का आध्यात्मिक जगत में ससम्मान वाचन बढेगा—जिससे हम उपाचार्य जैसे महापुरुषों की अमर वाणी का अधिक योग्यता के साथ प्रसार कर सकें।

समस्त जगत् का कल्याण हो इसी भावना के साथ।

तारानगर (राजस्थान)
१० १२ ५६

मुनि सुशील

: १ :

पूर्ण स्वतंत्रता की राह

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी,

धननामी परनामी रे

स्वतन्त्रता ही मानव जीवन का चरम उद्देश्य है। जो स्वतन्त्र हो जाता है, वही विजेता है, क्योंकि विजय का परिणाम ही स्वतन्त्रता के रूप में प्रकट होता है और जहाँ विजय है, वहाँ पराजितों का झुकना और वैभव सम्पन्नता अवश्यम्भावी है। इसीलिये कवि विनयचन्द जी भगवान वासुपूज्य को 'परनामी'—दूसरों को झुकाने वाले तथा 'धननामी'—वैभव सम्पन्न बतलाते हैं। जो परनामी और धननामी हैं उनमें त्रिभुवन का स्वामित्व तो सहज ही में स्थापित हो जाता है। परन्तु इस स्वतन्त्रता और विजय का कुछ और ही रहस्य है।

आज 'स्वतन्त्रता' शब्द का हमने बहुत ही संकुचित अर्थ मान रखा है। राजनैतिक या आर्थिक स्वतन्त्रताएँ भी समभाव के साधन रूप में हैं तो स्वतन्त्रता के ही रूप में हो सकती हैं

परन्तु हैं प्राथमिक रूप। सच्ची स्वतन्त्रता की मंजिल तो इनसे बहुत दूर है और उसकी तरफ बढ़ने वाला मार्ग का पथ अधिकाधिक दुरूह भी होता जाता है। स्वतन्त्रता की पूर्णोज्ज्वल ज्योति जहाँ चमकती है, वह स्थान है आत्मिक स्वतन्त्रता का। जब तक मनुष्य निज की मनोवृत्तियों को नहीं समझ पाता और उनकी सही प्रगति दिशा का निर्धारण नहीं कर सकता, दासता की काली छाया उस पर से हट नहीं सकती। वह अपनी इच्छाओं का गुलाम रहेगा और तृष्णा के अनन्त रूपों का भारी दबाव उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास किसी भी दिशा में नहीं होने देगा। जहा इच्छा और इन्द्रियों की दासता है, वहाँ आत्मा का पतन है और आत्मा के गिरने पर कभी भी सच्ची और पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती।

इतिहास के पृष्ठ सिद्ध करते हैं कि स्वतन्त्रता के अन्य रूपों की प्राप्ति हित भी सदैव जटिल सघर्ष करने पड़े हैं, परन्तु यह और भी सत्य है कि आत्मिक स्वतन्त्रता के लिये तो ये सघर्ष जटिलतम हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि आत्मा के अपने शत्रुओं से लड़ना, अपनी वासनाओं और अपने ही विकारों की जड़ें उखाड़ना, सरल कार्य नहीं है। बाहरी शत्रुओं से लड़ना और उनके समक्ष वीरता दिखाना, इस लड़ाई के सामने न्यूनतम महत्त्व रखते है। भीषण सकटों का सामना कर लाखों की सेना को परास्त करने वाले सेनापति चचल नारी के एक ही कटाक्ष से पराजित होते देखे गये है और लोभ

एव लालसा के पीछे तो आज व्यापक रूप से अणगणित पागल देखे जा सकते हैं, जिन्होंने कभी विदेशी शासन से कठोर टक्कर ली थी। तात्पर्य यह है कि आन्तरिक वृत्तियों को नियन्त्रित करना ही जीवन की महान् विजय है।

पूर्ण स्वतन्त्रता की राह पर आगे बढने के लिये यह आवश्यक है कि हम सुख और दुःख के रहस्य को समझें। यह सुनिश्चित तथ्य है कि ससार का प्रत्येक प्राणी सुख की कामना करता है और दुःख से व्याकुल होता है। इसी प्रवृत्ति के कारण प्रत्येक प्राणी अपने समस्त प्रयासों को भी इसी दिशा में नियोजित करना चाहता है कि उसे उनसे सुख ही सुख प्राप्त हो। परन्तु फिर भी यदि हम चारों ओर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि ससार के बहुसख्यक प्राणी दुःखी हैं। अत जब भी विचार करें, यही सनातन प्रश्न मुँह बाये सामने खडा रहता है कि ससार में इतना दुःख क्यों है?

धार्मिक दृष्टिकोण से सुख और दुःख आत्मा की क्रिया के ही प्रतिफल हैं। सुख और दुःख का निर्माता परमात्मा नहीं है—यह जैनधर्म का मत है। आत्मा अपनी नियति का स्वय ही विधाता है। 'ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता'—यह विचार सर्वथा अनुपयुक्त है। आत्मा स्वय ही कर्ता व भोक्ता है। इसके सिवाय सुख और दुःख के अनुभव में मनुष्य को ज्ञानवान् व चेतनाशील होना चाहिये। विवेकशील व्यक्ति सुख और दुःख दोनों में तटस्थ वृत्ति रखते हैं क्योंकि वे

जानते हैं कि शुभ कर्मों के उदय से सुख और अशुभ कर्मों के उदय से दु ख प्राप्त होता है तथा कर्मबन्धन का कारण उसका ही निज का आत्मा है, अत निज के किये हुए कार्यों का फल शान्त भाव से ही सहन करना चाहिये। यह विचारणा ही मनुष्य के जीवन को सन्तुलित बनाये रख सकती है, अन्यथा जीवन अत्यन्त ही विशृ खल व विषम अवस्था वाला हो जायगा। इस तटस्थ वृत्ति के अभाव में ही सुख में तो मनुष्य इतना मतवाला हो जाता है कि उसे हिताहित का ही भान नहीं रहता। वह यह सब कुछ भूल जाता है कि इस क्षणिक सुखानुभव के पश्चात् क्या दु ख के पहाड टूटने वाले हैं ? सुख में इस विस्मृति के कारण मनुष्य नये २ दुष्कर्म करता है और भविष्य के लिये दु खों का भारी बोझ इकट्ठा कर लेता है। इसी तरह दु ख की अनुभूति में भी व्याकुलता उत्पन्न करके वह हिंसा, प्रतिशोध आदि विभावों के कारण और अशुभ कर्मों का बन्ध कर लेता है। अत सुख और दु ख दोनों मे समान विचारणा ही मनुष्य के जीवन को सच्चे अर्थ में सुखी बना सकती है। जैसे नाटक के रगमच पर अभिनय करने वाला व्यक्ति न तो राजा का अभिनय करने पर अपने आपको सुखी मान लेता है, न भिखमगे का अभिनय करने पर दु खी। वह तो समझता है कि अभिनय का सुख या दु ख केवल क्षणिक व काल्पनिक मात्र है। दर्शक पर भी कुछ ऐसा ही प्रभाव पडता है। उसी तरह हम भी यह समझें कि ससार के इस रगमच पर सुख

और दु ख की एक माया सी फैली हुई है। सुख के पश्चात् दु ख और दु ख के पश्चात सुख—यह चक्र निरन्तर घूमता ही रहता है।

सुख और दु ख का अनुभव विशेषरूप से मनुष्य के हृदय-निर्माण पर निर्भर करता है। दु ख में मनुष्य यदि सही रूप से सोचे तो विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेता है। किसी कवि ने कहा भी है—

दु ख है ज्ञान की खान मानव!

शान्त बुद्धि और दृढ भावना के आधार पर दु ख से नई २ शिक्षाए मिलती हैं और यहा तक कि वे शिक्षाए इतनी अमिट रूप से अकित हो जाती हैं कि भावी जीवन के विकास हित वे वरदान रूप सिद्ध होती हैं। अधिकांशत सुख और दु ख की अनुभूतिया चित्त के विशिष्ट मनोभावों के कारण ही होती हैं। एक गरीब यह सोच कर मन में दु खी होने लगा कि उसका बच्चा मिठाई के लिये रो रहा है, परन्तु उसके पास उतने पैसे नहीं है। हलवाइयों के यहा पचासों तरह की स्वादिष्ट से स्वादिष्ट मिठाइयाँ रखी हैं और पैसे वाले खूब खरीदते हैं एव मजे उडाते है, किन्तु उसका बच्चा एक पेडे के लिये भी तरस रहा है। वह दु खी होता है और एक पैसे की गाजर खरीद कर बच्चे को खिलाना चाहता है। वह गाजर के छिल्के उतार कर फेंकता है, उसी समय एक भिखमगी आकर वे छिल्के अपने बच्चे को खिलाने लगती है। उस समय उस गरीब की

अनुभूति बदल जाती है कि उसके बच्चे की हालत किसी और के बच्चे की हालत से बेहतर है और वह सुख मानने लगता है। जो स्थिति एक क्षण पूर्व दुःख का कारण बनी हुई थी, वही दूसरे क्षण केवल मनोभावो के परिवर्तन से सुख रूप बन गई। एक ही स्थिति या वस्तु में सुख या दुःख का अनुभव किया जा सकता है। यह तो अनुभव करने वाले पर निर्भर है कि वह चित्त को किस प्रकार सन्तुलित रखता है?

इस सिलसिले में आधारभूत सिद्धान्त यह है कि सुख और दुःख की काल्पनिक अनुभूति के परे ही आत्मानन्द का निवास है एव जब आत्मानन्द का सचार होता है, तभी पूर्ण स्वतन्त्रता की मजिल का चमकता हुआ सिरा दिखाई देता है। भक्त तुकाराम का चरित्र इसी सत्य की साक्षी देता है कि किस प्रकार उन्होंने अपनी कर्कशा पत्नी के प्रत्येक व्यवहार को शिक्षा रूप लेकर मन में कभी क्रोध या ग्लानि की एक झलक भी नहीं आने दी? वे सदैव अपनी पत्नी की अज्ञानता का ही दोष समझ कर उसके प्रत्येक कटु शब्द पर मुस्करा उठते और अपने हृदय मे आत्मानन्द का सचार किसी दृष्टि से एक ही स्थायी प्रवाह में बनाये रखते।

एक दिन प्रात भक्त तुकाराम ज्यों ही भोजनार्थ अपने आसन पर बैठे। ईश्वर भजन कर अपने नित्य नियमानुसार अतिथि की प्रतीक्षा में थोडी देर बैठ कर भोजन प्रारभ करने वाले थे ही कि उनकी हृदय की कोमल व आग्रहभरी इच्छा के

अनुसार एक भिक्षुक आ पहुंचा। भक्त का हृदय हर्षित हो उठा। उन्होंने अपनी रोटी जाकर भिक्षुक को दे दी। यही तो भक्तों की महानता होती है कि स्वय भूखे रह जाते हैं किन्तु अभ्यागत का पहले स्वागत करते हैं। मनुष्यता भी इसी में है कि अपने दुखों को भूल कर भी पर दुख निवारण के लिये पहले प्रयत्न करे, अपनी आवश्यकता पूर्ति के साधनों से पहले दूसरों की कठिन आवश्यकताओं को पूरा करने मे सद्भावना-पूर्वक सहयोग दे। भक्त भी मनुष्यता के उच्च धरातल पर स्थित थे। आज के कहलाने वाले भक्तों की तरह आडम्बर मात्र दिखलाने वाले नही थे। आज के भक्त ऐश्वर्यमें मदमाते बने अपने से निम्न श्रेणी के व्यक्तियो के दर्द को तो समझते ही नहीं, न दान देने की भावना जागृत होती है और यदि कहीं वे दान देते भी है तो उसमे अपने स्वार्थ की मैली भावना ही भरी रहती है। इसी प्रकार कोई २ साधु भी ऐसे मिलेंगे जो दान के सर्व सम्मत सिद्धान्त को अपने सीमित स्वार्थों की इच्छा से उठाने का दुष्प्रयत्न करते है कि उनके सिवाय ससार के अन्य सभी प्राणी कुपात्र है और उन्हें दान देना अधर्म का कार्य करना है। तात्पर्य्य यह है कि आज के कुत्सित हृदय और भक्त तुकाराम के हृदय में कितना भारी अन्तर दिखाई देता है? भक्त का मन और मस्तिष्क तो इस विष से रहित था। वह तो अपने खाने के भोजन का दान करके भी अति प्रसन्न हुआ था। परन्तु उनकी पत्नी कर्कशा जो थी। यह सब कुछ देखते ही वह क्रोध

से तमतमा उठी। उसने कटु शब्दों की बौछार ही शुरू कर दी—मैंने बचे आटे की घी डाल कर एक ही रोटी बनाई थी, मैंने भी न खाकर उसे तुम्हारे लिये रखी, सो तुमने मेरी भी परवाह न करके उसे एक भिखारी को ही दे दी। इन गालियों पर भक्त हस पडे और बोले—"उस रोटी को मैंने भिखारी को देकर कितना अच्छा किया ? क्योंकि तुम तो उस रोटी को मेरे लिये रख कर त्यागियों की श्रेणी में आ गई, किन्तु मैं तो नीचा ही रह जाता, परन्तु अब तो हम दोनों साथ आ गये है। अब तुम्हीं कहो—मेरे तुम्हारे साथ आने पर तो तुम्हें खुश होना ही चाहिये।" यह था भक्त का वह मृदुल स्वभाव कि कठोर व्यवहार को भी सरलता से लेकर उसकी कठोरता को ही समाप्त कर देना।

इसी प्रकार एक दिन भक्त तुकाराम जब हाथ में एक साठा लेकर अपने घर पहुचे तो उन्होंने अपनी पत्नी से कहा—देखो, किसानों का स्वभाव कितना स्नेहवाला होता है। वह बेचारा सांठों का एक पूरा गट्ठर और घडा भर रस देने लगा, बहुत आग्रह किया तो उसका मन रखने के लिये मैं यह एक सांठा ले आया हूँ। तुम भी प्रेममय हृदय रखो तो सच्चा आनन्द प्राप्त कर सकती हो। भक्त ने तो देखा कि शायद यह उदाहरण उस पर कुछ असर करेगा, परन्तु उनकी पत्नी तो बुरी तरह झल्ला उठी—कैसे मूर्ख हो तुम, बेचारा सब कुछ दे रहा था और तुम लाये केवल एक साठा! अक्ल का दिवाला तो इसीको

कहते है, जब कि घर में खाने वाले भी तीन हैं। भक्त यह सुन कर मुस्कराने लगे। उनको फिर भी इस तरह मुस्कराते देखकर उसका गुस्सा और अधिक बढ़ गया और उसने उसी साठे की भक्त के जोरों से दे मारी। चोटसे साठा टूट गया और दैवयोग से उसके तीन टुकडे हो गये। ऐसे समय किसीको भी क्रोध आ जायगा परन्तु भक्त पत्नी के हाथ की इस मार के बावजूद भी बोले—देखो, तुम कितनी बुद्धि वाली हो, आवश्यकता के अनुसार ही तुमने साठे के टुकडे कर लिये इतना कह वे, हस पडे। यह थी उस भक्त की सहनशीलता और क्षमता की अनुपम शक्ति। यही शक्ति मनुष्य को कैसी भी दशा में दुःख के भार से बचा सकती है। मनुष्य प्रतिकूल परिस्थिति को भी अपने विचारों में अनुकूल समझ ले तो उस प्रतिकूल परिस्थिति में भी उसे आनन्द ही मिलता है। जहर को अमृत कर लेता है।

मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि यदि हमें पूर्ण स्वतन्त्र बनना है, पूर्ण आनन्दमय बनना है और पूर्ण विजेता कहलाना है तो दुःख और सुख के इस रहस्य को अमल में लाना होगा। पहले, दुःख और सुख दोनों के निर्माता हम स्वयं हैं इसलिये न घबराना चाहिये, न फूल उठना। दूसरे, दुःख और सुख का अनुभव किसी वस्तु विशेष या परिस्थिति विशेष में निहित नहीं, अपितु वह तो अपने निज के विचारों में ही रहा हुआ है। 'मन माने तो सुख है अरु मन माने तो दुःख'—का सिद्धान्त भी

जीवन में हम अक्सर घटित होता हुआ पाते हैं। अत दुख और सुख में तटस्थ वृत्ति रखने के लिये हमें हमारे विचारों को सन्तुलित बनाना चाहिये कि दुख और सुख की छिछली अनुभूतियों से ऊपर उठ कर ही सदैव सुख ही सुख देने वाले आत्मानन्द का गहरा अनुभव करें।

तीसरे, किसमें सुख है और किसमें दुख—यह समझने में भी मनुष्य बडी भूल करता है। सुख और दुख का अनुमान लगाने का मापदंड यह है कि जिस कार्य में सुख ही सुख मिले, समय और स्थिति के परिवर्तन पर भी दुख का लेश मात्र भी न आवे, उस कार्य को सुख प्रदायक मानना चाहिये, अन्यथा ऐसे कार्यों में, जिनमें पहले तो सुखाभास होता है किन्तु उनके करते रहने पर वह आभास लुप्त हो जाता है, सच्चे सुख का निवास नहीं है। सांसारिक भोगोपभोग, जिन्हें हम सुखकारी मानते है इसी दूसरी श्रेणी में आते है। इन भोगोपभोगों को क्षणिक भी इसीलिये कहा गया है कि क्षण मात्र सुखाभास देने के पश्चात् ये शाश्वत दुख के कारण बन जाते हैं और क्षण मात्र भी जो अनुभूति होती है, वह सच्ची नहीं, वरन् सुखाभास मात्र होती है, क्योंकि बाह्यानन्द अन्तर को प्रफुल्लित नहीं करता। आप हलुआ खा रहे है, आपको खुशी होती है किन्तु वह खुशी का दौर गहरे तक नहीं पहुचता और यदि आप रुचि से अधिक खाते जावें तो वही हलुआ बिमारी और तकलीफ का कारण बन जावेगा। परन्तु इसके विपरीत कुछ

ऐसे कार्य होते हैं, जिनके एक बार करने में सच्चा सुख मिलता है और यदि उन्हें निरन्तर करते जाय तो उनसे सुख का एक ऐसा प्रवाह बन जाता है, जो कभी टूटता ही नहीं और वही प्रवाह स्थायित्व ग्रहण कर आत्मानन्द के सागर में परिवर्तित हो जाता है। किसी दुःखी को आप सहानुभूति से सहायता पहुचाते हैं, आपको सुख की एक ऐसी अनुभूति होती है, जो बाहर प्रकट न भी हो, किन्तु अन्दर ही अन्दर छा जाती है और यदि ऐसे ही परोपकार के कार्य में हम पूरी तरह से लग जावें तो वह अनुभूति ही निजानन्द रूप बन जायगी। फिर खुशी का खजाना अन्दर ही खुल जायगा, दुःख जैसा तत्त्व तो कहीं रहेगा ही नहीं। यही अन्तर होता है—दुःख और सुख के अनुभव में और दोनों को पचा कर आत्मानन्द में परिणित कर देने में।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब आत्मा सदैव आनन्द आनन्द में ही रमण करेगी तो उसमें अपने विकारों अपनी वासनाओं से लडने की एक अपूर्व शक्ति उत्पन्न हो जायगी और उस शक्ति के सहारे ही आत्मा के शत्रुओं को झुका दिया जा सकेगा। 'परनामी' का यही अर्थ है और परनामी बनने पर दासता की काली छाया हटेगी तथा मानस में पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रकाश फैलेगा। यही प्रकाश विजेता का साम्राज्य होता है और यही प्रकाश उसकी वैभव सम्पन्नता है, जो उसे त्रिभुवन का स्वामित्व प्रदान करता है।

बन्धुओं! इसी प्रकाश को पाने के लिये हमें सुख और दुःख के वास्तविक रहस्य को समझ कर अपने जीवन पथ का निर्माण करना चाहिये।

लाल भवन, जयपुर,] [ता० ३० ६ ४६

: २ :

शोषण का मूल

कुन्थू जिनराज तू ऐसो,
नहीं कोई देव तुझ जैसो

प्रभु की प्रार्थना जीवन गति में बल और विनम्रता का एक साथ सञ्चार करती है। अपनी शक्तियोंके अभिमानमें मत्त मनुष्य को यह नम्र बनाती है कि तुझसे तो प्रभु सर्वशक्तिमान् है— तेरा अभिमान वृथा है। परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण प्रार्थना का प्रभाव यह है कि उन मनुष्यों के लिये, जो कुचले जा रहे हैं, जिन्हें नीचे गिराया जा रहा है, चूसा जा रहा है और जिनके खून पर कुछ राक्षस रूप व्यक्ति अपनी चाँदी बना रहे हों एव जिनका कोई सहारा न हो, प्रभु की प्रार्थना एक वरदान बन जाती है, क्योंकि जीवन में आश्रय का, वह भी प्रभु के महान् आश्रय का आश्वासन, उनके हृदय में अद्भुत साहस-सञ्चय कर देता है और वे उठ खड़े होते हैं—समाज के उस भीषण अन्याय का मुकाबिला करने के लिये। यही प्रभु की प्रार्थना

का विचित्र रहस्य है। इसीलिये कवि भगवान् कुन्थुनाथ से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! तुम्हारा आश्रय ऐसा है कि मुझे किसी अन्य के पास जाने की इच्छा ही नहीं होती। मेरी बांह पकड कर मेरा उद्धार करो! अत, जैसा मैंने ऊपर कहा है, शोषित, दलित और पतित मानवों के लिये आज प्रभु की प्रार्थना इसलिये विशेष महत्त्वपूर्ण है कि उन्हें अपने अन्यायमय जीवन की समाप्ति कर मानवता के उच्चस्तर तक पहुंचना है, समानता की श्रेणी में आकर अपना जीवन विकास करना है, इसके लिये प्रभु से ही साहस और शक्ति की माग करनी चाहिये, क्योंकि प्रभु का आश्रय उनके लिये अन्य किसी आश्रय से महान् होगा। इसका कारण यह है कि उनकी प्रार्थना स्वार्थपूर्ण नहीं है, वे तो सामाजिक शोषण समाप्ति के साथ साथ मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं। वे कहलाने वाले भक्त जो भगवान् के सामने अपने व्यक्तिगत स्वार्थोंकी पूर्ति हित हाथ फैलाते है, उनको प्रार्थना करने का एक दृष्टि से अधिकार ही नहीं है। वे प्रार्थना करने के लिये हर दृष्टि से अयोग्य हैं, क्योंकि वे प्रभु की प्रार्थना की आड में अपना स्वार्थ साधन करके अपने आत्मा और ससार के साथ विश्वासघात करते है। प्रार्थना की सच्ची भावना के अभाव में ही आज हम प्रार्थना के महत्त्व को भूल गये हैं। प्रार्थना के लिये आत्म समर्पण करना होता है, ग्रहण नहीं। जहा प्रार्थना के लिये हाथ फैलाया, वहाँ उसका आनन्द नष्ट हो गया। मैं कहना यह चाहता हू कि आज

जो शोषित हैं, वे शोषण के मूल कारण को समझ कर प्रभु का आश्रय प्राप्त करें और एक निश्चित विश्वास एवं दृढ आशा का बलिदान लेकर अपने आपकी कमजोरियों तथा शोषण के कारणों से जूझ पड़ें तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्त में विजय उनकी होगी। जो शुद्ध ध्येय के लिये लड़ रहा है और जिसने प्रभु का महान् आश्रय प्राप्त कर लिया है, विजय उसके सिवाय अन्य किसकी हो सकती है?

आज का युग अर्थयुग कहलाता है। अर्थ—यह मानवीय और जागतिक जीवन का केन्द्र बिन्दु बना हुआ है। मानवता और संसार के सभी उच्च सिद्धान्त व विचार धाराएं इसके निर्दय शोषण चक्र में पीसी जा रही है और यदि यही अर्थ राज इसी तरह चलता रहा तो अवश्य ही एक दिन मानव संस्कृतियाँ और सभ्यताएं चूर २ होकर विनाश के गहरे गर्त में सदैव के लिये डूब सक्ती हैं। आज व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में यही आग धू धू करके जल रही है। यह आग मानवता की भूखी आग है, जिसकी जलन धर्म और सद्भावनाओं के धरातल को तोड़ देगी। आज सभी मानवता के रक्षक प्रगतिवादी विचारकों का एक कर्तव्य है कि विश्व-शान्ति और मानवशान्ति को इस भयावह अग्नि से बचाने के लिये वे भरसक सद्प्रयत्न करें और इस कार्य में वे अपना जीवन अर्पण कर दें तथा शोषितों, दलितों और पीड़ितों के हृदय में एक ऐसी नव चेतना और आत्म जागरण की भावना

भर दें कि वे स्वय ही उठ खड़े हों और इस स्थिति का कठोर विरोध करें, जिनकी हड्डियों के ढेर पर अर्थयुग के ये सब क्रूर खेल खेले जा रहे हैं। शोषितों का महान् आत्मबल ही आने वाली महान् विपत्ति से समग्र मानवता की रक्षा कर सकता है।

इससे पहिले कि शोषण विरोध के साधनों पर विचार किया जाय, शोषण के मूल कारणों पर दृष्टिपात कर लेना अधिक आवश्यक है।

मेरा तो स्पष्ट यह मत है कि मनुष्य को सदैव अपनी ओर ही देखना चाहिये। यह प्रणाली दुर्भाग्यपूर्ण है कि हम किसी भी स्थिति के अस्तित्व का दोषारोपण दूसरो पर करें। आज शोषित वर्ग शोषण का मूल पूजीपतियों में स्थापित करता है और इसका परिणाम यह होता है कि वे प्रतिहिंसा से आहत होकर उनके विरोध मे हिंसक प्रवृत्तियों की ओर अपने आपको झुकाते हैं और इससे कार्य बनने की अपेक्षा कार्य शक्ति का विनाश ही अधिक होता है। यदि शोषित वर्ग शोषण के मूल कारणों का आरोपण अपने ऊपर ही कर लें कि उनकी स्वय की कमजोरिया है, जो उन्हें नीचे गिरने को विवश करती हैं तो उनको उत्साह और आशा का एक प्रकाश मिलेगा, जिसके सहारे वे अपने अन्याय और शोषण का ऐसा शान्त, पर तीव्र विरोध कर सकेंगे कि वे अपने उद्देश्य में सफल होकर ही रहेंगे। इस तत्व पर कि—

अप्पा कत्ता विकत्ता वा

'आत्मा ही करने वाला है और आत्मा ही भोगने वाला है' गभीरता से मनन किया जाय तो विदित होगा कि शोषित लोग अपने आपको कितना अधिक चेतनाशील बना सकते हैं। गीता में भी यही कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ॥

अर्थात्—

हे अर्जुन! मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी आत्मशक्तिको ही प्रज्वलित करे, अपने आपको अधिकाधिक शिथिल न बनाता जावे, क्योंकि आत्मा ही आत्मा का बन्धु और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है अर्थात अपने उत्थान पतन का कारण अपना ही आत्मा है। यह सन्देश आज कितनी प्रेरणा देता हुआ प्रतीत होता है। जहा हम आत्म शक्ति की आलोचना और दृढता पर डट जाते हैं, तब हमारे अन्दर एक विशेष प्रकार का तेज उद्भूत होता है और उस तेज के समक्ष अन्याय की बुनियाद पर टिकी हुई दुनिया की कोई शक्ति ठहर नहीं सकती।

इसके साथ ही यह भी समझ लेनेकी आवश्यकता है कि प्रभु की प्रार्थना आत्मार्पण भाव से की जाय, न कि केवल स्वार्थ पूर्ति की क्षुद्र अभिलाषा से। इसलिये कर्म आदि करने में ईश्वर को कारण रूप मानना मूर्खता है। इससे अपने अन्दर एक अकर्मण्यता का भाव उत्पन्न होता है, जो मनुष्य को अपनी

आत्मिक शक्तियों की पहिचान नहीं करने देता। गीता में भी इसी सम्बन्ध में कहा गया है —

न कर्त्तृत्व न च कर्माणि, न लोक सृजति प्रभु ।
न कर्मफल सयोग , स्वभावास्तु प्रवर्तते ॥

भाव यह है कि स्वभाव ही मनुष्य को कर्मक्षेत्र में प्रवृत्त करता है। अन्य कोई कारण नहीं है, जो मनुष्य को चेतना शील बना सके। अत शोषण का मूल इसी तथ्य में रहा हुआ है कि आत्मशक्ति के गभीर रहस्य को हम नहीं समझ पाये है। शोषण शोषण चिल्लाते हैं, परन्तु यह कीली कहाँसे घूमती है— इसे लोग नहीं जानते। जहाँ आत्म शक्ति की दृढता है, वहाँ शोषण प्रारभ ही नहीं हो सकता क्योंकि व्यक्ति अन्याय का कठिन प्रतिरोध करेगा और उसे समाप्त करके ही विश्राम लेगा। उसके लिये यह सत्य स्पष्ट होता है—अन्याय को चुप-चाप वही सहता है, जिसका आत्मा मरा हुआ होता है। आत्म-शक्ति के जागरण में अन्याय का अधकार टिक नही सकता। मौजूदा शोषण का भी इसी तरह विरोध किया जा सकता है।

अत शोषण विरोध के किन्हीं साधनों का आश्रय लेने से पहिले यह सोच लिया जाय कि शोषण का मूल कारण शोषितों की मरी हुई आत्माए है और जब तक उनमें जीवन नहीं डाला जायगा, शोषण का स्थायी अन्त कदापि नही हो सकता। यदि हिंसात्मक साधनों या अन्य ऐसे ही हीन व अशुद्ध साधनों से शोषण को समाप्त करने की चेष्टा की गई

ता हानि के अतिरिक्त उसमें कुछ भी प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि यह खतरेभरा रास्ता है। और माना कि इससे एक बार सफलता भी मिल गई, फिर भी शोषण किसी न किसी दूसरे रूप मे आकर अपना वैसा ही आधिपत्य जमा लेगा। आज अज्ञान मजदूर और किसानों को यदि पूंजीपति चूसते हैं तो कल उसी अज्ञानता के आधार पर बुद्धिपति चूसेंगे। बहरहाल जब तक आत्मा की सुप्तावस्था है, चूसना (शोषण) बराबर जारी रहेगा। इसलिये आज शोषित वर्ग की बुद्धिमत्ता इसी में है कि वह शोषण के मूल कारण को पहिचाने और व्यर्थ की चक्करबाजी में न फसता हुआ अपने आपको जागृत करे और सदैव के लिये शोषण की बुनियाद का खात्मा कर दे।

जैसा कि मैं ऊपर संकेत कर चुका हूं, प्रभु की प्रार्थना का रहस्य बड़ा विचित्र है। एक तरफ दलितों और पतितों को जहाँ इससे आत्मशक्ति और स्वजागृति की चमकती हुई ज्योति दिखाई देती है, वहाँ यही प्रभु की प्रार्थना उन लोगों को, जो अपनी बाहरी शक्तियों के नशे में बेभान होते हैं और अभिमान के मद में अन्याय के नृशंस क्षेत्र में उतर आते हैं, विनम्रता का एक सुन्दर पाठ पढ़ाती है। उन्हें यह महसूस कराती है कि ये शक्तियाँ, जिन पर तुझे बड़ा गर्व है, एक क्षण में नष्ट हो जायगी और तब तू आश्रयहीन होकर दुनिया से बुरी तरह ठुकराया जायगा। उस अवस्था का अपनी आँखों में चित्र उतार और जागरण का सन्देश ले। प्रभु की प्रार्थना उनके हृदय में अपनी

सच्ची वस्तुस्थितिका चित्र खींचती है और यह स्पष्ट करती हैं कि उसकी जो बाहरी शक्तियाँ है, वे उसकी अनधिकार चेष्टा के फलस्वरूप हैं। इस प्रकार शोषक वर्ग भी प्रभु की प्रार्थना से अधिकार और अनधिकार के विश्लेषण को समझ सकता है और समय रहते हुए अपनी स्थिति को सम्हाल सकता है।

समाज की आर्थिक समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पत्ति के कई हाथों से कुछ हाथों में ही सग्रह होने का प्रमुख कारण यह है कि वह अन्यायपूर्वक मजदूरों की मिहनत को अपहृत करके एकत्रित की जाती है। गीता में कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मोविगुण , परधर्मास्वनुष्ठितान्।
स्वधर्मे निधन श्रेय , परधर्मो भयावह ॥

इस श्लोक का अर्थ वर्णव्यवस्था की दृष्टि से किया जाता है, वह इसका सकुचित अर्थ है। विशालता के दृष्टिकोण से इसका अर्थ बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। अपने ही धर्म अर्थात् कर्त्तव्य की सीमा में रहना चाहिये। पौदुगलिक सुखों में विमुग्ध न होकर आत्मिक सुखों की ओर ही गति करनी चाहिये। अपने कर्त्तव्य पालन की उच्च श्रेणी में पहुंचना ही जीवन विकास का चरम रूप है। परन्तु अन्त में इसके साथ ही बता दिया है कि 'परधर्मो भयावह '—दूसरों के कर्त्तव्य या अधिकार क्षेत्र में घुसने की चेष्टाएं हमेशा भयकर अन्त लिये हुए रहती हैं।

अभिप्राय यह है कि आज इस भौतिकवादी सडान से ऊपर उठने की नितान्त आवश्यकता है, जिसके आधार पर महान्

विग्रह मचे हुए हैं और यह समझने की जरूरत है कि हमारा स्वय का आत्मा प्रकाशमान् है और आनन्द का मधुर स्रोत है। बाहरी जो सुख हैं, वे केवल हमारी आत्ममूर्च्छाको ही बढाते हैं और हमें पतन की राह पर ढकेलते हैं। वास्तविक आनन्द तो इन्द्रियों के क्षेत्र से परे रहता है। 'इन्द्रियाणि पराण्याहु' इन्द्रियों के साथ सयोग करने वाला मन परे है, मन से निश्चयात्मक बुद्धि अलग है। आनन्द करने वाला तथा विशेष जिज्ञासु होने के कारण ज्ञानप्राप्ति में आनन्द लेने वाला आत्मा है और उसीका आनन्द समय और वस्तु के प्रभाव से रहित है। जब आत्मा इसी आनन्द की शोध में तल्लीन होता है, तभी सच्ची शान्ति का अनुभव कर सकता है।

अपने आपको न देख और समझ सकने के कारण ही आज एक तरह से आत्मिक सुप्तावस्था सी है। शोषित प्रतिहिंसा की आग में जलते हैं तो शोषक अभिमान के नशे में मतवाले होकर समाज को निष्प्राण बना रहे हैं। दोनों जब आत्मिक लक्ष्य को समझेंगे और अपने आपको जागृत करेंगे तभी सभी प्रश्नों का सुन्दर हल निकल सकेगा और समाज स्वस्थ रूप से गतिशील हो सकेगा। जैसे शरीर के सभी हिस्सों में यदि खून की मात्रा समान परिमाण में न पहुचे तो शरीर स्वस्थ नहीं रह सकता। उस अग को लकवा मार जायगा, जिस अग में खून न पहुचे। आज मानव समाज को भी ऐसा ही लकवा मार गया है। सासारिक क्षेत्र में जिसका महत्त्व है, न तो उस

सम्पत्ति का ही खून समाज के सभी अगों के पास बराबर पहुचता है न आध्यात्मिक रक्त ही सब अपनाने का प्रयास करते हैं। जैसा कि शरीरवेत्ताओं का मत है कि शरीर के रक्त में दो तरह के कण (Corpurcells) होते हैं—लाल और सफेद। समाज के खून में भी दोनों कणों की जरूरत है। सफेद कण शरीर के सिपाही होते हैं, ये ही बीमारी के कीटाणुओं से शरीर की रक्षा करते हैं। समाज के खून में लाल कण तो अर्थ (सम्पत्ति) के है और सफेद कण अध्यात्मवाद के होने चाहिये, जो विकारों और वासनाओं की बीमारी से मानव समाज की रक्षा कर सके। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का सम्मिश्रण रूपी रक्त जबतक समाजके सभी अगोंमें बराबर मात्रा में पहुचता रहेगा, समाज कभी अस्वस्थ नहीं हो सकेगा। हम तो साधु हैं, परन्तु हम भी समाज से अलग नहीं हैं। हम ससार से दूर रह कर भी सामाजिक रक्त में सफेद कणों के निर्माण का काम करते है क्योंकि जिस खून मे सफेद कण अधिक से अधिक बढते है वही खून अधिकाधिक शक्तिशाली होता जाता है, तो इस प्रकार समाज को शक्तिशाली बनाने का हमारा भी अपना कर्त्तव्य है।

अन्त में मैं यही कहना चाहूंगा कि हमारा सबका लक्ष्य समाज के सुस्वास्थ्य की ओर हो। शोषण समाप्त हो और मानव बन्धुत्व की ऐसी सरस भावना प्रसारित हो कि हिंसा और युद्धों की आग सदैव के लिये समाप्त हो जाय। इस परम

लक्ष्य तक पहुच सकनेमे अर्थयुग को मानवयुग में बदल दें और इस प्रकार जडता के वातावरण से दूर हट कर चेतनोमय जगत् में प्रवेश करे, जहा आत्मशक्ति व आत्मानन्द का दिव्य प्रकाश छिटकता है।

एक बार और याद दिलाना चाहता हू कि सच्चे हृदय से की गई प्रभु की प्रार्थना ही शोषण के मूल को उखाड सकती है और सब मनुष्यों के बीच मानव प्रेम का पवित्र सूत्र पिरो सकती है। मैं आशा करता हू कि आज का त्रस्त और हिंसा-रत जगत् शान्ति के भव्य नन्दन वन की ओर बढे तथा अपना उच्चतम विकास उपलब्ध करे।

मन्दसौर (मालवा)] [१० ६ ४८

: ३ :

सत् पुरुषार्थ करो उठो !

श्री आदिश्वर स्वामी हो,
प्रणमू सिरनामी तुम भणी

यह उस महामानव की प्रार्थना है, जिसने सर्वप्रथम पुरुष के पौरुष को जगाया तथा उसे अकर्मण्यता की दल्दल से खींच कर 'कर्म' के व्यापक क्षेत्र में नियोजित किया। भगवान् आदिनाथ आदिकाल के प्रवर्तक थे, जब कि उन्होंने कर्म और धर्म का सुन्दर सामजस्य स्थापित किया। 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा', जो कर्म में शौर्य प्रदर्शित करेंगे, वे ही तो आखिर धर्म के विराट् क्षेत्र में भी साहस और सजगता के साथ आगे बढ सकेंगे। जहा शौर्यत्व का ही अभाव है, वहां तो ऐसे लोगों की किसी भी क्षेत्र में अपेक्षा नहीं की जा सकती। कर्मशक्ति से भागने वाले, ससार के अपने पुनीत व नैतिक कर्त्तव्यों से सहज ही स्खलित हो जाने वाला, धर्म की दुनियां में भी स्थिर चित्त कैसे बना रह सकता है?

भगवान् आदिनाथ के पहले युगलिया काल या जिसे आज की भाषा में आदिम युग कह दें, चल रहा था। उस समय मनुष्य को सिर्फ प्रकृति का ही आधार था। वृक्ष की छालें वस्त्र का काम देती और उसके फल भोजन का। उसके निवास वा व्यवस्था में कोई खास स्थायित्व नहीं होता। किन्तु धीरे २ प्रकृति की सम्पन्नता कम होने लगी और उपयोगी पदार्थ घटने लगे तो उनमें परस्पर क्लेश व अशान्ति फैलने लगी। उस समय भगवान् आदिनाथ ने उन्हें जगाया, प्रकृति की छिपी हुई महान् सम्पन्नता का रहस्योद्घाटन किया। मनुष्यों की सोई हुई शक्तियों में तब एक सशक्त स्पन्दन पैदा हुआ, जिसकी प्रेरणा से उन्होंने अपने अन्दर और बाहर की शक्तियों को पहचाना और उन्हें कर्म और धर्म के मार्ग में प्रवृत्त किया। यह एक नये युग का अभ्युदय था।

हमारी आत्मा में अनन्त शक्तियां भरी पडी हैं जो अनन्त ज्ञान के प्रकाश में जाग कर हमारे जीवन को अनन्त आनन्द की ओर मोड सकती हैं। किन्तु जैसे एक सन्दूक पर जिसमें बहु मूल्य हीरे जवाहर पड़े हुए हैं भारी ताला लगा है। अब जो कोई भी उसमें से हीरे निकालना चाहे उसके लिये उसे कुछ न कुछ श्रम अवश्य ही करना पडेगा। आलसी व्यक्ति की तरह वर्षों तक भी सिर्फ लम्बी कल्पनाएं करता रहे तो भी वह ताला स्वत हीं खुल नहीं सकता। उसे खोलने के लिये तो उसकी चाबी की आवश्यकता होगी। वो ठीक इसी तरह कोरी कल्प

नाएँ व वाणीविलास किसी भी क्षेत्र में कार्य की सम्पन्नता मे सफल नहीं हो सकता। कार्य की सफलता जिस तत्त्व की तह में निहित है, वह है पुरुषार्थ और इसे जगाये बिना न व्यक्ति जाग सकता है और न समाज, बल्कि अन्तरतम का विकास भी इसके बिना साधा नहीं जा सकता।

भगवान् आदिनाथ ने आदिम युग में इसी पुरुषार्थ को जगाया था और उसे कर्म व धर्म की शौर्य भरी राह दिखाई थी। उन्हीं आदिनाथ भगवान के तेजस्वी सन्देश को ध्यान में लाकर आज यह देखना है कि समाज, राष्ट्र ओर आत्म विकास का गति में इस पुरुषार्थ का कैसा अभाव है और वह अभाव किस तरह प्रगति की वृत्तियों और प्रवृत्तियों को कुंठित किये चला जा रहा है ? पहले कि इस दृष्टि से वर्तमान की आलोचना करें और भविष्य की राह शोधें, पुरुषार्थ की अद्वितीय शक्ति का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है, क्योंकि उसके विना उसकी ओर झुकना दृढ व स्थायी नहीं हो सकता।

एक छोटासा उदाहरण है। कुए से पानी निकालने वाली एक पतली सी रस्सी भी बार २ किनारे के पत्थर से रगड खाकर उस पर गहरे गड्ढे बना देती है। कहाँ वह पतली व कोमल रस्सी और कहा दूसरी ओर मजबूत व कठोर शिला खड, फिर भी वह रस्सी जूझती है और उस कठोरता में भी अपना रास्ता बनाती है। यह मामूली सा उदाहरण ही हमे पुरुषार्थ की महान् शक्ति का मर्म दिखाता है। अकर्मण्यता और

शिथिलता रहने जैसी है और उसके बाद इनकी गति निश्चय ही सभी तरह की विकृति की ओर बढ़ती है। जब मनुष्य श्रम से दूर भागता है तो क्या तो उसके शरीर के स्नायु और मस्तिष्क के ततु, क्या उसकी हृदय की प्रबुद्धिकारक भावनाएँ, सभी शिथिल होने लगते है। उसके कार्यों में विश्रृंखलता और गतिहीनता पैदा होने लगती है। जैसे शरीर की शिथिलता बीमारियों के आक्रमण को सरल बना देती है, वैसे ही मन और आत्मा की कमजोरी विनाशक विकृतियों को बुलावा देती है, जिनके आगमन के साथ सर्वतोमुखी पतन प्रारम्भ हो जाता है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति में पुरुषार्थ की भावना होती है, जिसकी आन्तरिक व बाह्य शक्तियाँ कार्योत्सुक रहती हैं, उसमें नवीन जागरण का नित्यानुभव होता है और उस जागरण के सद्भाव में उसे अपने व अपने साथी समाज की गहराई में पैठने का अवसर मिलता है। तदनन्तर बिहारी की 'जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठि'—की उक्ति के अनुसार सर्वतो मुखी विकास का मार्ग उसके सामने प्रशस्त होता चला जाता है। कल्पना करें, किसीको जल की आवश्यकता हुई। अब जो अकर्मण्य है, वह कुआ खोदने की ओर नहीं मुड़ेगा, बल्कि वह देखेगा कि कहाँ से दूसरों के श्रम से उपलब्ध जल प्राप्त किया जा सकता है अथवा असफल होने पर छीना जा सकता है। अकर्मण्यता में दूसरों के श्रम का शोषण करने की कुवृत्ति जागती है और अगर उस शोषण में सफलता मिलती जाय तो

फिर विलासिता की ओर झुकना होता है। फिर विलासिता और अकर्मण्यता का ऐसा ताता बंध जाता है कि उनके शिकजों से समाज को मुक्त करना भी दु साध्य हो जाता है। दूसरी ओर पुरुषार्थी जल के लिये कुआ खोदने में जुट जायगा। ज्यों २ वह खोदता चला जायगा उसके श्रम में साध्य (जल) के प्रति निकटतर पहुचते चले जाने के कारण एक विशेष प्रकार का हर्ष घुलता मिलता रहेगा और वह हर्षमिश्रित श्रम उसमें ऐसी व्यापक सद्भावना पैदा करता है कि जल प्राप्त होने पर भी उसे वह निज की ही सम्पत्ति न मान कर सार्वजनिक उपयोग की वस्तु बना देता है। उसमें उदारता मिलती है, क्योंकि उसे जल के अप्राप्य होने का भय नहीं, उसे अपने श्रम पर, पुरुषार्थ पर और अपनी शक्ति पर विश्वास होता है।

यह है पुरुषार्थ और पुरुषार्थहीनता के बीच की गहरी खाई का दृश्य, जिसमें मनुष्य आसानी से अपने विकास और पतन का रास्ता ढूढ सकता है। पुरुषार्थी के लिये कठिनतम कार्य भी असभव नहीं होते और जहा असभावना की विचारधारा ही नहीं, वहा रुकना और गिरना कैसा ? वहां तो निरन्तर बढते रहना है और बीच में आने वाली आपदाओं से सफलता पूर्वक लडते भिडते रहना है। इसी पुरुषार्थ के प्रबल आवेग में नेपोलियन ने ललकार कर कहा था कि असभव शब्द सिर्फ मूर्खों के कोष में होता है और उसने किसी अपेक्षा से बिल्कुल ठीक कहा था। अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा के लिये महान से महान्

धार्मिक जीवन पर काफी असर पड़ता है। कल्पना करें कि यदि संसार में अशान्ति और अराजकता मची हो तो धार्मिक शान्ति की साधना कैसे संभव हो सकती है? स्वयं के लिये और दूसरों के जीवन विकास के लिये तो उस त्राहि त्राहि में प्रयास होना दुष्कर ही हो सकता है। इसी तरह समाज का राजनैतिक व आर्थिक व्यवस्था भी अगर शोषण व व्यक्तिगत लाभ के आधार पर बनी रही तो विषमता में अनैतिकता का प्रसार निश्चित सा है और जब अनैतिकता फैलती है तो धर्म उखड़ता है—यह एक तथ्य है। तो मैं आपसे कहना चाहता था कि मनुष्यों के मन की मलिनता नष्ट न हो सकने के अनेक कारणों में से एक मुख्य कारण यह भी है कि आज के समाज व राज्य में अन्न व वस्त्र की सुव्यवस्था का अभाव है। मनुष्यों को अधिक पाप रोटी और कपड़े की प्राप्ति के लिये करने पड़ते हैं, क्योंकि फैली हुई आर्थिक परिस्थितियाँ इसके लिये बहुसंख्यक जनता को विवश कर देती है। यदि यही आर्थिक व्यवस्था जैनधर्म के अपरिग्रह सिद्धान्त अर्थात् नीति और समानता के आधार पर होती तो ऐसी अनाचारपूर्ण स्थिति नहीं बनती।

इस पापपूर्ण आर्थिक व्यवस्था की बुनियाद में यह भावना काम कर रही है कि पुरुषार्थ और श्रम न किया जाय। प्रायः हर व्यक्ति यह चाहता है कि वह व्यापार, नौकरी या सट्टा आदि ऐसा व्यवसाय पकड़ ले कि मेहनत तो कम से कम

करनी पड़े और लाभ अधिक से अधिक पैदा हो सके। यह पहले ऊपर बताया जा चुका है कि जब मनुष्य श्रम से दूर भागता है तो उसमें दूसरे की वस्तु छीनने की भावना होती है, क्योंकि आवश्यकताओं को तो वह घटाता नहीं, बल्कि किन्हीं अंशों में बढ़ाता है और वैसी स्थिति में शोषण और मुनाफा वृत्ति की नींव जमती है। पैसे का शोषण अर्थात संग्रह और संग्रह का फल विषमता तथा विषमता समाज के दुःख व दुर्भावना की प्रधान कारण बन जाती है। व्यापार ही देखिये, जो पहले नीति और जन सुविधा के आधार पर चलता था, आज जन असुविधा पर ही उसे फलीभूत किया जाता है। वह यह रह गया है कि इधर की वस्तु उधर दी। दो बिल्लियों की लड़ाई होने पर एक बन्दर उनका निपटारा करने आया और मुफ्त की रोटी खा गया, वैसे ही व्यापार प्राय मुफ्त का माल खाना रह गया है। मनुष्य यदि स्वयं स्वावलम्बी होकर खाए तो उसके मन में धर्म का निवास हो सकता है। आनन्द आदि श्रावकों के यहाँ उत्पादन के साधन कृषि, पशुपालन आदि की सारी व्यवस्था रहती थी। श्रम और सद्भावना याने धर्म जुड़े हुए से रहते हैं।

जो स्वयं स्वावलम्बी नहीं होते, वे परमुखापेक्षी तथा पुरुषार्थहीन होते चले जाते हैं। कन्ट्रोल के जमाने में अन्न वस्त्र पूरा नहीं मिलता जिससे काला बाजार होता है और काले बाजार का अन्न मन की शुद्धि कैसे बनाये रख सकता है? आप लोगों

की ही क्या कहे, हम साधना करने वाले साधुओं के सामने भी बडा विकट प्रश्न खडा हो जाता है कि आप लोगों को जो राशन मिलता है, उससे आप लोगों को भी पूरा नही पडता, फिर आप साधुओं को दान कैसे दे सकते है? आप नगर निवासियो को तो इच्छित रूप से अन्न सग्रह की स्वतत्रता नहीं है और हम लोगों के पास राशन कार्ड नहीं, क्योंकि जैन मुनि अपने लिये बनाया हुआ या खरीदा हुआ भोजन लेते ही नहीं, तो यही दिखता है आप काले बाजार के अन्न से हमें भिक्षा देते होगे? गाँवों मे लोग खुद स्वावलम्बी होते हैं, बिना काले बाजार का खाते हैं, अत हमें निर्दोष भोजन मिलता है। मैं कई बार सोचता हूँ और इसी निर्णय पर पहुचता हूँ कि मनुष्यों का जीवन स्वावलम्बी बने और वे पुरुषार्थ से अपना जीवन निर्वाह करने में स्वतत्र हों, तब ही वे सही रूप से धर्म का पालन कर सकते हैं और साधु भी अपनी साधना में शुद्धि बनाये रख सकते है।

सभी खराबियो व बुराइयों का मूल आलस्य है। देश में अनेकों भिक्षुक है, जो अपने जीवन मे आलस्य के कारण जनता पर भारभूत बने हुए हैं। पुरुषार्थ करने की शक्ति होते हुए भी जो साधुता नही रखते हैं और आलस्य से माग खाते हैं, उनकी भिक्षा पौरुषहरि भिक्षा है। द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान के हिरोशिमा नगर पर अणुबम डाल कर महान् विनाश उपस्थित किया गया था, किन्तु कहा जाता है कि जापानियों ने अपने

अद्भुत श्रम व उत्पादन शक्ति से उस प्रदेश को पुन सुख सुविधा सम्पन्न बना दिया है। भारत देश के शरणार्थी भाइयों को ही देखिये, जिन्होंने इतने अभाव के वातावरण में भी अपने पैर टिकाये हैं और आज तो उन्हें शरणार्थी के बदले श्रम करने की वजह से 'पुरुषार्थी' भी कहा जाने लगा है।

आज मैं आपसे प्रश्न करू कि भारत के लोग इतने आस्तिक है, धर्म को मानते हैं फिर भी इतने दु खी क्यों हैं? इसकी तह में उतरें तो यही पायेंगे कि दूसरों के पसीने पर गुलछर्रे उडाने की भावना ने घर कर लिया है, पर यह सबसे बडा पाप है, चूकि दुनिया में सच ही पापो की जड आलस्य है, अधिकाश चोरिया, लडाइयां व अन्य अनैतिकता के कार्य भी इसी आलस्य के कारण ही होते है। लोग केवल धर्म का नाम लेते हैं, फिलॉसफी जानते हैं किन्तु सिर्फ ज्ञान कुछ नहीं कर सकता, वह तो 'ज्ञान भार क्रियां विना' होता है।

वर्तमान शिक्षण की पद्धति तो बड़ी विचित्र है। पढा लिखा युवक ऐसा निकलता है कि उसे काम नही सुहाता, कुर्सी की इच्छा होती है। फल यह होता है कि वह सिर्फ नौकरी की टोह में घूमता है और बेकारी के कारण वह भी मिलना कठिन हो जाती है, तब उसका निज का जीवन भी उसके लिये भारभूत बन जाता है। एक उदाहरण है कि एक बार एक पढा लिखा नैयायिक तेल खरीदने के लिये तेली के यहां गया। तेली घाणी पर काम कर रहा था और घूमते हुए बैल के गले में बधी घंटी

टुनन टुनन बज रही थी। तेली घाणी का कुछ काम करके बाहर दूसरे काम से चला जाता था और बैल घूमता रहता था। यह सब देख कर नैयायिक को बडा आश्चर्य हुआ। उसने तेली से बैल के गले मे घंटी बांधने का कारण पूछा तो तेली ने बताया कि उसके बाहर चले जाने पर भी जब तक घंटी बजती रहती है, वह समझता है कि बैल चल रहा है और घंटी की आवाज बन्द होते ही बैल को चलाने के लिये वह वापिस आ जाता है। इस पर नैयायिक ने शका की कि अगर बैल खडा रह कर गर्दन हिलाता रहे तो घंटी बजती ही रहेगी। तेली हस पडा और बोला कि मेरा बैल आप सरीखी शिक्षा नही पाया हुआ है कि काम न करे और धोखा देता रहे। किन्तु आज का शिक्षित युवक तो उस नैयायिक की तरह सोचता ही नहीं, करता भी है। अब बताइये कि तेली के उस बैल से भी युवक का जीवन कैसा हो गया है? गाँवों के अपढ किसान मजदूर भी ऐसी शिक्षा पाने लगे तो देश का क्या हाल होगा? आज वह वर्ग पुरुषार्थी है, श्रम करता है और सबको जीवन दान दे रहा है। आज की निष्क्रिय और अकर्मण्य बनाने वाली शिक्षा पद्धति तो सामाजिक जीवन के लिये एक अभिशाप बन गई है।

गांधीजी के जीवन की ओर नजर डालें तो उनके अभ्युदय विकास का यही रहस्य दिखाई देगा कि उनका ज्ञान के साथ २ पुरुषार्थी था। जिस तरह मस्तिष्क की मजबूती के लिये ज्ञान व विचार की आवश्यकता है, उसी . . . स्वास्थ्य

के लिये शारीरिक श्रम भी जरूरी है। शरीर श्रम के बिना मस्तिष्क की गति भी सुस्थिर नहीं रह सकती। इस तरह शरीर-श्रम की सबके लिये अनिवार्यता समाज में एक महत्त्वपूर्ण स्थिति है। जैसे शरीर में रक्त सचरण बन्द हो जाय तो लकवा होता है या हार्ट फेल, उसी तरह सबके शारीरिक श्रम न करने से समाज में भी एक तरह का पशुपन पैदा होने लगता है। गांधीजी के जीवन के ऐसे कई उदाहरण हैं, जब यह देखने को मिलता है कि अपने पुरुषार्थ से उन्होंने दूसरों पर कितना गहरा असर डाला था? एक बार एक बहुत बड़ा और फैशनपरस्त आदमी जब गांधीजी के आश्रम में पहुंचा तो एक मिट्टी खोदते हुए आदमी से गांधीजी के लिये पूछने लगा और 'क्या काम है?' ऐसा पूछने पर तो बुरी तरह झल्लाने और बुरा भला कहने लगा। मगर उसके आश्चर्य और लज्जा का ठिकाना नहीं रहा, जब उसे मालूम हुआ कि मिट्टी खोदने वाला आदमी ही गांधीजी हैं। ऐसे क्षण पुरुषार्थ जगाने वाले क्षण होते हैं।

विकास की राह पर आगे बढने का यह विशिष्ट उपाय है कि आप लोग स्वावलम्बी बनें स्वावलम्बन द्वारा अपने ही पैरों पर खडे होवें। तभी आपको दूसरों का सम्मान भी प्राप्त हो सकता है। ऊपर की चटक मटक और बाहर के आडम्बर से किसी को क्षण भर के लिये धोखा देकर अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है, किन्तु वास्तविक सरलता व श्रम की भावना के बिना ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की तरह किसी के हृदय

को स्थायी रूप से प्रभावित नहीं किया जा सकता। आडम्बर टिक नही सकते, उन्हें स्वप्नों के समान नष्ट होना पड़ता है। भारतीय संस्कृतिका ही एक दृष्टान्त दू कि यहां पर गणगौर का त्यौहार काफी प्रसिद्ध है। इस दिन पार्वती की एक सुन्दर मूर्ति को अत्यन्त सुन्दर वस्त्रों व बहुमूल्य अलंकारों से सजाते है, फिर उसे अपने कन्धों पर उठा कर सब ओर घूमाते हैं। किन्तु इतना सब होने पर भी उसे पानी में डुबा (बोला) देते हैं। तो इस त्यौहार से यह क्यों न सबक लिया जाय कि किसी तरह आप साधन सामग्री जुटा कर आडम्बर की चमक दार रचना कर लेते हैं, बल्कि उसके जरिये सम्मान भी प्राप्त कर लेते है, लेकिन आगे यह क्यो नही सोचते कि उस 'गण गौर' का सम्मान कितने समय तक टिकता है और उसके बाद में उसकी क्या अवस्था होती है ? यह तो अपने जीवन के प्रति गहराई से सोचने और समझने की बात है। जो पुरुषार्थी नहीं, उन्हें समाज भले ही क्षण भर के लिये अपनाता दीखे किन्तु अन्ततोगत्वा वे सब बुरी तरह फेंक दिये जाते हैं।

पुरुषार्थ के विषय में बहनों से भी दो शब्द खास तौर पर इसलिये कहूंगा कि घर में बहुत सी बहनें 'गणगौर' होकर बैठी रहती हैं, रसोई आदि का सब काम नौकरों से करवाती हैं। इससे श्रम की वृत्ति हटती है, जिसके साथ जो बुराइयां आती हैं, वे तो हैं ही। सिवाय इनके असंयम बढता है; क्योंकि जिस विवेक और कौशलता के साथ सभी कार्य किये जाने चाहिये,

वे नौकरों द्वारा उस तरह नहीं हो पाते। ऐसे असयम के भागी आलस्य करने वाले ही होते हे।

आलसी आदमी ही नाना प्रकार के बहाने बनाते ह और नाना तरह की युक्तिया देकर अपनी आदतों की पुष्टि करते हैं। 'भाग्य में जो होगा, वही होगा'—यह भी आलस्य की ही मूल भावना है। भाग्य भी तो मनुष्य का ही बनाया हुआ होता है और इसलिये मनुष्य उसे बदल भी सकता है। जीवन के ह्रास और विकास में भाग्य मुख्य नहीं है, पुरुषार्थ और श्रम प्रधान कारण हैं। परिश्रम से दूर भागने वाले अधिकतर भाग्य की दुहाइ देकर अपनी आलस्य वृत्ति को छिपाना चाहते हैं। साहस के साथ आगे बढने वाले भाग्य को नहीं देखते, वे तो एकमात्र कर्त्तव्य पर अपना अधिकार समझते हैं और कर्त्तव्य की एक-निष्ठा तथा पुरुषार्थी प्रतिभा से भाग्य के बहाव को भी मोड देते हैं। भाग्य और पुरुषार्थ की टक्कर में पुरुषार्थ की ही विजय होती है। भाग्य तो पुरुषार्थ का दास है। पुरुषार्थी के चरणों में भाग्यश्री लोटती है, फिर भी उसे उसकी चाह नहीं रहती। यह है पुरुषार्थ का जीवन पर पडने वाला अमिट प्रभाव!

तो हम प्रारभ में भगवान् आदिनाथ की प्रार्थना कर रहे थे और सोच रहे थे कि किस प्रकार उन्होंने जन जीवन में एक महान् जागृति का एव कर्मयुग का श्रीगणेश किया? उन्होंने पुरुषार्थ की वृत्ति को स्थायी वृत्ति बना देने के लिये पुरुषों को ७२ व स्त्रियों को ६४ कलाए सिखाई, जिनके द्वारा कर्मयोग व

धर्मयोग दोनों में आलस्य को समाप्त करने के प्रयास किये गये। भगवान ने पहले मनुष्यों को कर्मठ बनाया व बाद में धर्म का उपदेश दिया, क्योंकि सदशिक्षा द्वारा सदाचरण वही व्यक्ति कर सकता है, जो कर्मण्य व कर्त्तव्यनिष्ठ हो, प्रमादी नहीं। जो व्यक्ति मोक्ष या धर्म के नाम पर आलस्यमय जीवन व्यतीत करते हैं तो वास्तव में वे धर्म के अधिकारी नहीं। वे भगवान् आदिनाथ द्वारा प्रदर्शित पथ पर नहीं चल रहे हैं।

अन्त में मैं फिर दोहराऊं कि समाज व धर्म के सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ने व सुखी बनने का यह सीधा मार्ग है कि प्रत्येक व्यक्ति पुरुषार्थी बने। शारीरिक, मानसिक व आत्मिक श्रम विलासिता, भीरुता व प्रमाद के बन्धन कड़िया काट डालेंगे और इनके द्वारा व्यक्ति में सरलता आत्मगौरव व सत्पथ पर चलने की अथक सजगता उत्पन्न होगी। इन सद्गुणों के आधार पर सिर्फ व्यक्ति का ही विकास नहीं होगा, बल्कि समाज के विभिन्न क्षेत्रों व व्यवस्थाओं में आज जो सडान पैदा हो गई है, वह भी सुव्यवस्था में बदल जायगी। सत्पुरुषार्थ वृत्ति जीवन विकास की निश्चित सीढी है।

४

दुःख न दो, दुःख नहीं होंगे

"श्री अभिनन्दन दुःखनिकन्दन
वन्दन पूजन योग जी

यह सर्वथा सत्य है कि संसार का कोई भी प्राणी दुःख की वाछा नहीं करता, बल्कि हर युग में यह सनातन प्रश्न रहा है कि दुःख का विनाश कैसे किया जाय? यह दूसरी बात है कि मनुष्य आज तक अधिकतर नासमझी के साधनों की ओर भागता रहा है किन्तु उसका साध्य सदैव सुख ही रहा है। दुःखों का नाश हो और सुख मिले, इसकी शोध में हर प्राणी भटकता रहता है। कवि विनयचन्द्र जी भी यहां जिन परमात्मा की प्रार्थना कर रहे हैं, उनका नाम अभिनन्दन है जिसका अर्थ होता है प्रशंसनीय व स्तुत्य। सभी आस्तिक परमात्मा की प्रार्थना करते हैं स्तुति करते हैं किन्तु इसके पीछे कौन सी

जिनके आधार पर लोगों का धर्म व ईश्वर में विश्वास लड़खड़ा जाता है, क्योंकि यह प्रश्न उनके सामने लटका ही रहता है कि अगर परमात्मा दुःख मिटाता है तो फिर हम दुःखी क्यों ?

परन्तु मैं आपको बताऊं कि यह प्रश्न जितना विकट है, इसका समाधान दरअसल उतना ही सरल है। भगवान् दुःखों का नाश तो करते हैं पर कैसे ?—यही ठीक तरह से समझने की वस्तुस्थिति है।

आज कल रोगों की सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा पद्धति यही मानी जाती है कि रोग का बिल्कुल प्राकृतिक ढंग से इलाज किया जाय। इसे प्राकृतिक चिकित्सा कहते हैं। इसका मूल सिद्धान्त यह है कि शरीर में जब अस्वाभाविक द्रव्य अधिक बढ़ जाते हैं तो रोग की उत्पत्ति होती है। तब चिकित्सक पथ्य का निर्देश करते हैं और वैसी पद्धति बताते हैं जिससे पहले के इकट्ठे हुए अस्वाभाविक द्रव्य भी नष्ट होते जावें। धीरे २ प्राकृतिक ढंग से रोग का मूल ही कट जाता है। ठीक इसी तरह भगवान् भी प्राणियों के आधिभौतिक, आधिदैविक व आध्यात्मिक दुःखों का कारण बताते हैं तथा दुःखों की उत्पत्ति के मूल पर ही आघात करने को कहते हैं। लोगों की समझ का यही फेर है कि दुःख तो मिटाना चाहते हैं परन्तु दुःख पैदा करने वाले कारणों को न तो समझते हैं और न छोड़ना ही चाहते हैं। फिर अगर 'कारण' नहीं छूटता तो 'कार्य' होनेमें सिवाय खुद के किसको दोष दिया जा सकता है ? कोई ऊपर पत्थर फेंक कर

कारण है—उसे भी कवि इसमें साफ करते हैं कि वे अभिनन्दन 'दुःख निकन्दन' हैं—दुःखों को नष्ट करने वाले हैं।

अब यह सोचने की चीज है कि क्या वास्तव में भगवान् सर्व दुःखों का नाश करते हैं? अगर वे ऐसा करते हैं तो चूंकि वे सर्वज्ञानी होते हैं, इसलिये सबके दुःखों को हस्तामलकवत् देखते हैं और इसके साथ ही चूंकि वे सर्वशक्तिमान् होते हैं, इसलिये उन दुःखों को नष्ट करने को पूर्ण समर्थ हैं व उनका ऐसा स्वभाव भी है। तब यह देखना है कि जगत में कोई दुःखी तो नहीं है? क्योंकि एक शक्तिशाली के साथ रहते हुए किसी को शत्रु का कोई भय नहीं हो सकता तथा जब वह रक्षा करता है तभी उस पर विश्वास भी जमता है। आज भी है। जब शासक लोग अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते व उचित सुविधाओं को सबके लिये सुलभ नहीं बनाते तो जनता भी उनके अधिकारों को मानने के लिये तैयार नहीं रहती। इसी तरह अगर भगवान् दुःख मिटा देते हैं तो फिर इतने लोग दुःखी क्यों? और जब इतने लोग दुःखी हैं तो भगवान् को 'दुःख निकन्दन' कैसे कहा जाय? यह प्रश्न आप लोगों के मस्तिष्कों में चक्कर काट रहा होगा। कई श्रद्धालु लोग भी तंग आकर यह कह देते हैं कि ईश्वर व धर्म पर विश्वास करके अगर हम आज की दुनिया में चलें तो पेट भरना भी मुश्किल हो जाय, क्योंकि वे लोग अक्सर सुखी देखे जाते हैं, जो व्यवसाय में प्रवेश कर धर्म और नीति को भूल जाते हैं। ऐसे ही कई तर्क हैं,

जिनके आधार पर लोगों का धर्म व ईश्वर में विश्वास लड़खड़ा जाता है, क्योंकि यह प्रश्न उनके सामने लटका ही रहता है कि अगर परमात्मा दुःख मिटाता है तो फिर हम दुःखी क्यों?

परन्तु मैं आपको बताऊं कि यह प्रश्न जितना विकट है, इसका समाधान दरअसल उतना ही सरल है। भगवान् दुःखों का नाश तो करते हैं पर कैसे?—यही ठीक तरह से समझने की वस्तुस्थिति है।

आज कल रोगों की सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा पद्धति यही मानी जाती है कि रोग का बिल्कुल प्राकृतिक ढंग से ईलाज किया जाय। इसे प्राकृतिक चिकित्सा कहते हैं। इसका मूल सिद्धान्त यह है कि शरीर में जब अस्वाभाविक द्रव्य अधिक बढ़ जाते हैं तो रोग की उत्पत्ति होती है। तब चिकित्सक पथ्य का निर्देश करते हैं और वैसी पद्धति बताते हैं जिससे पहले के इकट्ठे हुए अस्वाभाविक द्रव्य भी नष्ट होते जावें। धीरे २ प्राकृतिक ढंग से रोग का मूल ही कट जाता है। ठीक ऐसी तरह भगवान् भी प्राणियों के आधिभौतिक, आधिदैविक व आध्यात्मिक दुःखों का कारण बताते हैं तथा दुःखों की उत्पत्ति के मूल पर ही आघात करने को कहते हैं। लोगों की समझ का यही फेर है कि दुःख तो मिटाना चाहते हैं परन्तु दुःख पैदा करने वाले कारणों को न तो समझते हैं और न छोड़ना ही चाहते हैं। फिर अगर 'कारण' नहीं छूटता तो 'कार्य' होनेमें सिवाय खुद के किसको दोष दिया जा सकता है? कोई ऊपर पत्थर फेंक कर

नीचे सिर रख दे और परमात्मा से प्रार्थना करे कि हे प्रभु, मुझे पत्थर की चोट न लगे तो यह हास्यास्पद है। उसी तरह मैं रोग तो दूर करना चाहे, पर अपथ्य करते रहे तो यह निश्चय है कि रोग दूर नहीं हो सकता।

भगवान् तो उस प्राकृतिक चिकित्सक की तरह हैं जो शरीर में बढने वाले अस्वाभाविक द्रव्यों को लेखा बता कर उसके लिये तदनुसार पथ्य का निर्देश कर देते हैं। अब यह रोगी पर उत्तरदायित्व रहता है कि वह किस तरह पथ्य को निभाता है तथा प्राकृतिक पदार्थों व चिकित्सा पद्धति में अपने जीवन क्रम को ढाल देता है। इसी तथ्य पर ही उसकी स्वास्थ्य प्राप्ति भी आधारित रहती है। भगवान भी हमारे दुःख दूर करना चाहते हैं, उन्होंने उसके कारण व उपाय बताये हैं। लेकिन अगर हम ही अपना कर्त्तव्य न निभा सकें और उस कारण दुःखों के नरक कुंड से बाहर न निकल सकें तो यह हमारे लिये ही विचारणीय प्रश्न है। क्योंकि भगवान् तो हमारे लिये आदर्श है तथा अपने जीवन व उपदेशों द्वारा परम प्रेरणा के स्रोत हैं, सृष्टि संचालन या हमारे भाग्यों तथा कर्मों के निर्माण व चालन का भार उन पर नहीं।

संसार में सुख की अविरल धारा प्रवाहित करने के लिये भगवान् द्वारा प्रदर्शित यह ध्रुव मार्ग है कि अगर तुम्हें दुःख नहीं चाहिये और सुख चाहिये तो अपनी ओर से भी किसी को दुःख न दो, किन्तु सुख दो। आज की न्याय पद्धति का आधार

भी आपको यही मिलेगा। अगर एक कोई अपराध कर देता है और दूसरा भी कानून अपने हाथ में लेकर उसका बदला लेने की कोशिश करता है तो न्याय में दोनों अपराधी गिने जाते हैं। क्योंकि इसके पीछे भी यही सिद्धान्त है कि अगर तुम चाहते हो कि तुम्हें कोई न सतावे और शान्ति दे तो तुम भी किसीको मत सताओ। बल्कि चाहिये तो यह कि कोई तुम्हें सता भी दे तो तुम उसे ढंग से शिक्षा दिलाने का प्रयास करो, बदले में जबर न बन जाओ।

इस विचारणा को अगर गंभीरता पूर्वक समझने की चेष्टा की जाय तो आत्म स्वरूप के समीप पहुँचा जा सकता है। उस समय ऐसी अनुभूति होगी कि अपने दुःखों के लिये दूसरों को दोष देना व्यर्थ है। अगर हम हो अपनी प्रवृत्तियों को सीमित व वृत्तियों को नियमित रखें अर्थात् अपनी ही आत्मा को निकट से समझें व कर्त्तव्य पथ पर चलावें तो दुःखों की सृष्टि ही नहीं होगी, बल्कि निजत्व को विसर्जन कर देने के स्वर्गीय भावों के साथ अमिट सुख का अनुभव होने लगेगा। भगवान् महावीर उत्तराध्ययनसूत्र में कहते हैं —

"अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाणय, सुहाणय

अर्थात् सुख दुःख का कर्त्ता व भोक्ता अपना निज का आत्मा ही है। गीता में भी यही कहा गया है—"उद्धरेदात्म-नात्मानम्" कि अपना उद्धार अपनी ही आत्मा से करो। करीब २ सभी धर्मों में यही कहा गया है। अतः पहली आवश्य-

कता यह है कि अपनी आत्मानुभूतियों को सही रूप में ढाला जाय।

महात्मा बुद्ध एक बार भिक्षा लेने के लिये जा रहे थे, मार्ग में उन्होंने कुछ लड़कों को मछली मारते देखा। यह देख बुद्ध उनके पास गये और पूछा—बालकों, क्या तुम दुःख से डरते हो? दुःख तुम्हें क्या अप्रिय है? लड़कों ने उत्तर दिया—हम तो दुःख से घबराते हैं, हमें दुःख नहीं चाहिये। तब बुद्ध ने उन्हें समझाया कि चूकि तुम दुःख दे रहे हो, इसलिये तुम्हें दुःख अवश्य मिलेगा। यदि दुःख नहीं चाहिये तो प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी रूप से तथा मन से भी किसीको दुःखित करने की ओर मत झुको।

वैसे समझने में यह सिद्धान्त बड़ा सरल प्रतीत होता है कि दुःख न दो, दुःख नहीं होंगे; किन्तु अगर आजके अशान्त व हिंसाग्रस्त विश्व में व्यक्ति व राष्ट्र सही तौर पर इसे आचरण में लाना प्रारंभ कर दें तो निश्चय समझिये कि शान्ति एवं सुख के नये वातावरण की सुन्दर रचना की जा सकती है। क्योंकि आज की सामाजिक व राजनीतिक अवस्था का मूल ही यह है कि दूसरों के दुःखों पर कुछ लोगों के सुखों का संसार बसाया जाता है, जिसका आखिरी परिणाम सबके दुःख के सिवाय कुछ नहीं निकलता। मैं इस सम्बन्ध में यहां विस्तार से नहीं बताकर संक्षेप में ही बतलाऊंगा कि वास्तव में वर्तमान मानव समाज के बीच ऐसी स्थिति विद्यमान है।

आज के व्यापार या व्यवसाय में देखिये, जैसे यह आधार मानकर चला जाता है कि जिस तरह दूसरे को जितना लूटा जा सकता है, लूट लिया जाय। नमूना अच्छा बताया, माल खराब दिया। अधिक माप-तौल बताकर कम मापा तौला। अनाज में साधारण कंकर नहीं मिलाया जा सकता तो अनाज की तरह के ही कंकर बनाने के लिये कारखाने खुल गये। ये हैं निचले स्तर की बातें। ऊपर के व्यवसायियों में ये ही सारी अनैतिकताएँ अत्यधिक कुटिल व टेढ़ी बन कर फैलती चली जाती हैं, जिनका आधार लाखों करोड़ों का शोषण व उत्पीडन बन जाता है। दुष्काल में हजारों व्यक्ति चाहे मौत के मुह में चले जा रहे हों, व्यापारी अपने ही मुनाफे के बारे में सोचता रहे! तो इस तरह की पद्धति को 'परदुखाश्रयी' ही कहा जाना चाहिये। जब यह पद्धति चलती है तो निश्चित रूप से ये कार्य वे ही करते हैं जो किसी भी तरह की शक्ति सम्पन्न होते हैं। वे अपने सुखों को बनाने के लिये इस ओर आकर्षित होते हैं। उसका परिणाम बहुसख्यक अशक्तों की असह्य पीडा के रूप में प्रकट होता है। अत व्यक्ति अगर दूसरों के दुखों को अपना दुख समझने लगें तो आज की अवस्था में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो जाय।

ऐसी ही कुछ स्थिति आज विभिन्न राष्ट्रों के बीच भी बनी हुई दिखाई देती है। जो शक्तिशाली राष्ट्र हैं, वे किसी भी तरह कमजोर राष्ट्रों को अपने पन्जे में रखना चाहते हैं। उनकी इच्छा

रहती है कि दूसरे राष्ट्र दुःखी हों ताकि उनकी दुःखभरी स्थिति से शोषण करके वे अपने राष्ट्रीय सुखों को बढ़ा सकें। इस तरह दूसरे के दुःख पर अपने सुख की रचना करने की वृत्ति रखना भी दूसरे को दुःखित करने के समान ही है क्योंकि उसका अन्तिम परिणाम भी दूसरों के दुःख व पीड़न में ही प्रकट होता है। सिर्फ तरीके का फर्क है—अपने सुख के लिये दूसरे को सताना प्रत्यक्ष दिखाई देता है और अपने सुख के लिये दूसरे के दुःख की इच्छा करना परोक्ष रूप है।

वर्तमान राष्ट्र अगर दुःखवाद के इस रहस्य को समझ जावें और उनके शासक अपनी नीतियां सहृदयता व ईमानदारी से बरतने लगें तो कोई कारण नहीं कि युद्धों को न रोका जा सके तथा विश्वशान्ति की बुनियाद मजबूत न बनाई जा सके।

इस अनुभूति को जगाने की आवश्यकता है कि दूसरे को दुःख देने के पहिले उस दुःख को अपने पर आया हुआ जान कर अनुभव करो और उसके बाद निर्णय करो कि क्या तुम्हें दूसरे को इस प्रकार दुःखित करना भी चाहिये? प्रत्येक प्राणी की स्वाभाविक इच्छा व चेष्टा होती है कि उसे कोई दुःख न दे या उसे किसी तरह दुःखित भी न होना पड़े। किन्तु अपनी विविध प्रवृत्तियों में वह अपनी इस इच्छा को भुला देता है और किसी भी स्वार्थ के वशीभूत होकर अमानवीय क्रियाओं की ओर झुक जाता है। इस प्रकार की आत्म विस्मृति के विरुद्ध अगर आत्मानुभव की भावना जाग उठे तो मनुष्य की स्वच्छ गति

पर रोक लगाई जा सकती है, क्योंकि उसके बाद वह अपने प्रत्येक कार्य को स्वानुभव की कसौटी पर पहले कसना चाहेगा और वैसी स्थिति में स्वभावतः ही उसकी औरों को दुःखित करने की प्रवृत्ति समाप्त होती जायगी।

समाज की गति पारस्परिकता पर निर्भर होती है और जब यही मानवी वृत्ति व्यापक होकर समाज के विशाल आंगन में चारों ओर प्रसारित हो जायगी तो फिर सभी नागरिक अपने पारस्परिक व्यवहारों में इसी प्रवृत्ति के अनुसार कार्यरत होंगे। इसका निश्चय ही यह फल होगा कि कष्टों का उद्भव ही खतम होने लगेगा। एक दुःख नहीं देगा और दूसरे भी दुःख नहीं देंगे। इस तरह ही पहले को कभी दुःखों का सामना नहीं होगा।

इसलिये यह स्पष्ट रूप से समझा जाना चाहिये कि दुःख दूर करने का यही प्रधान मार्ग है कि हम पहले किसीको दुःख देना छोड़ दें, क्योंकि सामाजिक रचनात्मक कार्य का प्रारंभ भी व्यक्ति से ही संभव हो सकेगा। अगर प्रत्येक व्यक्ति पहले प्रारंभ की अपेक्षा दूसरे से ही करता रहे तो सामाजिक कार्यों का सम्पादन दुष्कर क्या, असंभव ही हो जायगा। अतः सबसे पहले हम लोग यह संकल्प करें कि हम किसीको कभी किसी तरह की पीड़ा नहीं पहुंचायेंगे, कभी किसीको हमसे कोई कष्ट हो जायगा तो उसके लिये प्रायश्चित्त करेंगे तथा सबकी भविष्य में सुख प्राप्ति की निरन्तर कामना करते रहेंगे। जिस

प्रकार कि इस गीत में कवि ने अपनी सहज सौजन्यभरी सद्भावना प्रकट की है —

दयामय ऐसी मति हो जाय ॥ ध्रुव ॥
औरों के सुख को सुख समझूं, परसुख का करूं उपाय।
अपने दुःख सब सहूं किन्तु, पर दुःख न देखा जाय॥दयामय०॥

हृदय में बालक की तरह सरलता व हृदयद्रावकता पैदा हो जाय कि हे प्रभु ! मुझे धन नहीं चाहिये, अधिकार नहीं चाहिये, न मुझे ससार का बडे से बडा ऐश्वर्य या वैभव ही चाहिये, क्योंकि इन सब की प्राप्ति अन्य प्राणियों को पीडित करने से होती है। मुझे ये सारे वैभव पहले अनेक बार मिले भी हैं, किन्तु मुझे कभी शान्ति नहीं मिली। हे परमात्मन् ! अब आपका ज्ञानमय मार्ग मुझे मिल गया है जिसके अनुसार मुझे प्रकाश मिला है, क्योंकि अब तक मैं दूसरों को दुःख दे अपने सुख की खोज कर रहा था। लेकिन अब मैं दूसरों के सुख में ही अपने सुख को देखता हू। अपने दुःखों के लिये नहीं। अब मेरी व्यग्रता दूसरों के दुःख मिटाने के लिये है। इस प्रकार की भावना हृदय के सारे कलुष को धोकर उसे दर्पणवत् चमका कर प्रकाशित कर देगी।

ऐसी भावना का दर्शन हम मातृ हृदय में करते हैं। माँ बालक के सुख में ही अपना सुख मानती है, उसे दुःखी देखकर पहले स्वयं बेचैन हो जाती है। अगर माँ की यह प्रेममयी भावना अपने पुत्र से आगे देवर जेठ के पुत्रों के प्रति भी हो तो उसे घर

में लक्ष्मी के समान समझा जाने लगता है तथा घर भर के लोग उसे प्रेम व आदर की दृष्टि से देखने लगते हैं। इससे भी आगे अगर यही सरस भावना मोहल्ले, ग्राम, समाज व राष्ट्र तक प्रसारित हो जाय तो उसे राष्ट्रीय विभूति का सम्मान मिल जाता है। इस भावना के व्यापक होने की चरम स्थिति है कि वह समस्त विश्व में फैल जाय। सारा विश्व माँ को अपनी सन्तान की तरह लगे—ऐसी अवस्था को विश्व मातृत्व की सर्वोच्च अवस्था कही जानी चाहिये। हमारा हृदय इसी मातृत्व की उपलब्धि की ओर बढ़े—ऐसा मानसावस्था के प्रति सबका लक्ष्य होना चाहिये। माँ मे दूसरों के सुख में सुख तथा दुःख में दुःख मानने की भावना का एक तरह से केन्द्रीकरण होता है, जिसका क्षेत्र अपनी सन्तान तक अक्सर सीमित रहता है किन्तु अविचल सुख प्राप्ति के लिये इसी केन्द्रीकरण को विशाल विश्व के प्रांगण में विकेन्द्रित करना पड़ता है। अपने हृदय में सम्पूर्ण विश्व को समा लेना पड़ता है या यों समझिये कि अपने हृदय को सम्पूर्ण विश्व में बिखेर कर घुला मिला देना पड़ता है। इसी विकेन्द्रीकरण की भावना से ही सच्चे सुख की लहरें उत्पन्न होती हैं।

महापुरुषों की महानता का यही रहस्य है। उन्होंने इसी सरस भावना को अपने हृदय में भलीभांति रमा लिया, क्योंकि इसका प्रभाव ग्राम, राष्ट्र व विश्व को भी अपनी स्वर्गीय अनुभूति प्रदान करता है। भगवान् महावीर भी त्याग व तपस्या

से अपने जीवन को निखार कर जगत् के कल्याण के लिये निकल पड़े थे। तीर्थंकरों की अन्य केवलियों से यही विशिष्टता होती है कि वे अपना उत्थान करके जगज्जीवों के दुःख दूर करनेके लिये सतत प्रयत्न करते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम का नाम भी आज तक क्यों अमिट बना हुआ है? क्या इसलिये कि वे बड़े राजपुत्र या स्वयं राजा थे? नहीं, बड़े राजाओं की इतिहास में कमी नहीं, किन्तु उनमें एक निराली विशिष्टता थी।

राम की वह विशिष्टता हमें उनके चरित्र में पद २ पर दिखाई देती है। जब राम विवाह कर सीता समेत अयोध्या लौट आये तो दशरथ ने पुत्र को सभी तरह योग्य देखकर स्वयं निवृत्त हो दीक्षा लेने का विचार किया। क्योंकि प्राचीन काल में लोगों को सांसारिक वासनाओं में आसक्ति प्रगाढ़ नहीं हुआ करती थी। ज्योंही उन्हें उपयुक्त अवसर मिलता, वे सहज भाव से उन्हें छोड़ कर आत्मोत्थान के आध्यात्मिक पथ पर चल देते थे। इस तरह महाराजा दशरथ ने भी राजसभा में अपनी निवृत्ति व राम के राज्याभिषेक की घोषणा कर दी। वहां राम के कई सहचारी मित्र बैठे हुए थे, वे इस घोषणा से अतीव ही प्रसन्न हुए तथा राम को यह शुभ सूचना सुनाने के लिये चल पड़े। वे सोच रहे थे कि इसे सुनकर राम खूब ही प्रसन्न होंगे, मगर जिस समय वे राम के भवन में प्रविष्ट हुए, उस समय राम विचार कर रहे थे कि पिताजी का बोझ उठाने में मेरी ही तरह तीन और भाई हैं फिर क्या जरूरी है कि मैं

ही इस बन्धन में बधूं? राज्य तो वे भी सभाल लेंगे, मैं तो सारे देश में भ्रमण करके दुःखितों की सेवा करूंगा। इसी समय उन मित्रों को आनन्दित देख कर राम ने उनके इस आनन्द का कारण जानना चाहा और जब अपने ही राज्याभिषेक की घोषणा का समाचार सुना तो वे अचानक ही उदास हो गये, क्योंकि क्या तो वे सोच रहे थे और बीच ही में यह क्या हो गया?

राम ने उदासी से मित्रों को कहा कि मेरे लिये इससे बढ़ कर दुःख की क्या बात होगी कि मेरे छोटे भाइयों को राज्य न देकर वह मुझे दिया जा रहा है? इसपर मित्र हँस पड़े और कहने लगे—यह कौनसी नई बात है? राजनीति यही कहती है कि जो बड़ा भाई है, वही राज्य का अधिकारी होता है। तुलसीदासजी ने भी राम के मुख से उस वक्त कहलाया है कि—

"विमल वंश यह अनुचित एकू।
अनुज विहाय बड़े हि अभिषेकू॥

यह है वह निराली विशिष्टता कि राम अपना सुख नहीं बटोरना चाहते, बल्कि दूसरों के सुख की ही चिन्ता में मग्न रहते हैं।

जैन रामायण के अनुसार अपने पति व पुत्र भरत को एक साथ ही दीक्षा लेते देखकर दोनों का वियोग सहन नहीं हो सकेगा—इस भावना से कैकयी ने एक ही वरदान मांगा था नहीं, कि भरत को राज्य मिले। जैन रामायणकार ने राम

को जबरन वन भेजने में उनके व्यक्तित्व का गौरव नहीं समझा। जब भरत के राज्याभिषेक की तैयारी होने लगी तो तो राम भरत को राज्य सम्हालने के लिये कहने लगे और भरत राम को ही वह पद सम्हालने के लिये। रामायणकार के शब्दों में तब ऐसी स्थिति हो गई, जो निरपेक्षता की द्योतक है —

"राज्य तख्त का गेंद बनाकर, खेलन लगे खिलाडी।
इधर भरत ने, उधर राम ने, दोनों ने ठोकर मारी॥
शिक्षा दे रही जो रामायण हमको अति प्यारी॥"

गेंद का खेल भी तभी जमता है, जब कि प्रत्येक दल का खिलाडी उसे अपने विरोधी दल की ओर फेंकता है। अगर जिसके पास गेंद आवे और वह वही गेंद पकड कर बैठ जाय तो कैसा खेल होगा? उसी तरह अपने स्वार्थ को जब दूसरों के स्वार्थों में मिला दिया जायगा, तभी विश्व की विकास गति नियमित रूप से चल सकेगी।

अपना निछावर करने में, दे डालने में ही सुख का निवास रहा हुआ है। राम की नीति क्या थी—बड़ा वह है, जो अपने अधिकारों को छोटों को दे डालता है और उन्हें बड़ा बना देता है। आपके देश में भी यदि 'रामराज' लाना है तो इसी नीति की ओर ध्यान देना चाहिये। किन्तु हो क्या रहा है— सभी राजनैतिक दल सत्ता को अपने ही अधिकार में लपेट लेने या लपेटे रखने की इच्छा करते हैं। जब राम की नीति को आचरण में नहीं लाया जा रहा है तो ये दल कैसे दावा करते हैं

कि वे रामराज की ओर बढ़ रहे हैं ? यह तो जनता को भुलावे में रखने की चाल मात्र है।

इसलिये क्या तो राजनीति में, व क्या अन्य सभी मानवीय नीतियों में स्वार्थ त्याग की धर्ममय नीति के प्रवेश कराने की आवश्यकता है। देश को सुखी बनाने के लिये विरोध की नहीं, मेल जोल की जरूरत है। कई राज्यों में देखा जाता है कि मन्त्रि-मडल बनते हैं और बिगडते हैं तथा सत्ता के लिये असन्तोष मचा रहता है। इसका मतलब है कि सभी दूसरों का हक छीन कर अपने ही आगे बढ़ने का रास्ता बनाना चाहते हैं। जहाँ हृदयों की ऐसी सकुचितता है, वहा सुखों का द्वार नहीं खुलता। सुखों के लिये तो हृदयों की उदारता का त्याग के आधार पर अधिक से अधिक विस्तार होना चाहिये। इसी तरह प्रत्येक नागरिक की तथा समूचे देश की सुख की राह खोली जा सकती है।

गुलिस्तां में एक छोटा सा किस्सा है कि एक अमीर आदमी ने अपने बाए हाथ की छोटी अगुली में सुन्दर अगूठी पहनी। उसे देखकर एक दूसरे अमीर ने उसका कारण पूछा तो उसने जवाब दिया कि दाहिना हाथ तो बड़ा है ही, क्योंकि यह दूसरों से हाथ मिलाता है, दस्तखत करता है और दूसरे सभी मुख्य काम करता है किन्तु बांया हाथ तो अधिकतर बिना सम्मान के सेवा के कार्य ही करता है और उसमें भी छोटी अगुली को इसीलिये अगूठी पहिनाई गई है कि छोटे की व

सेवक की इज्जत बढ़ाई जाय। इसे ही वास्तव में आज के सामाजिक जीवन में घटाया जाय तो गरीबों का दुःख दूर किया जा सकता है।

मनुष्य जीवन की यही गौरवभरी सार्थकता है कि अपनी सारी शक्ति व प्राप्ति को व्यक्तियों के दुःखों को दूर करने में लगा दे। सभी आत्माओं में ईश्वरीय गुण रहा हुआ है अतः अपनी सेवा द्वारा हम जितनी आत्माओं को क्लेशमुक्त करके उन्हें उस विशिष्ट गुण की ओर बढ़ने की प्रेरणा दे सकें, यही हमारे लिये सच्चे सुखानुभव का प्रमुख कारण हो सकेगा। सहानुभूति की प्रेममय भावना से दुःखी व दुःखार्त, दोनों के हृदयों का उत्थानात्मक जागरण होता है। क्योंकि यहां पर मनुष्य निजत्व से ऊपर उठकर दुःखी के हृदय में प्रवेश करता है तथा उसका सान्निध्य उसे स्वत्व की भावना से ऊपर उठा देता है। परिणामतः उसका हृदय विशालता का एक नया प्रकाश पाकर सौजन्य की ऊँची मीनार को छू लेने के लिये आतुर हो उठता है।

उदारता के साथ प्राणियों की सेवा करने तथा जगत के दुःख में समा कर उसे दूर करने के लिये पूर्णतया सलग्न होने में ईश्वर व धर्म की महान् आराधना तथा आत्मा की एक दृष्टि से सर्वोच्च साधना रही हुई है।

अन्त में मैं आपको फिर याद दिलाऊँ कि "अभिनन्दन दुःखनिकन्दन" हैं किन्तु दुःखों का नाश भी तभी होगा जब

आप दु खों का नाश करने के लिये अपने आप को तैयार कर लेंगे। आप उस चौराहे पर खडे हैं, जहां से एक ओर सुख के साम्राज्य की ओर पैर बढाये जा सकते हैं तथा दूसरा रास्ता आकर्षक होते हुए भी नासमझी का व दु खों का है। भगवान् आपको अपनी अमृतवाणी से सुखों की ओर बढते रहने का सन्केत कर रहे हैं, अब यह आप पर हे कि अपने जीवन को किस दिशा की ओर आप मोड देते हे ??

महरौली (कुतुब) देहली] [२ ६ ५१

: ५ :

तृष्णा वैतरणी नदी

श्री जिनराज सुपार्श्व पूरो आस हमारी

जगत् का प्रत्येक प्राणी अपने जन्म से किन्हीं आशाओं, इच्छाओं या वासनाओं को पालता पोसता है तथा जीवन भर उनकी पूर्ति हित सघर्ष करता रहता है। यह सघर्ष का क्रम उसके जीवन भर तक इसलिये चलता रहता है कि ज्यों २ किन्हीं इच्छाओं की पूर्ति होती जाती है, उनके स्थान पर अगणित इच्छाएं अधिक उत्पन्न हो जाती हैं और इस प्रकार जिन अंशों में मानव अपने अथक परिश्रम से सुलझनें उपस्थित करता है, उसने कई गुण उसके बाद अधिक उलझन मे उलझता चला जाता है। अत मनुष्य का इच्छाओं के पीछे भागना मृत्यु तक समाप्त नहीं हो पाता। मेरे इस कथन के साथ ही आपको आश्चर्य होगा कि कवि विनयचन्द जी न जाने कैसी आशा के लिये भगवान से प्रार्थना कर रहे हैं।

पहले कि मैं कविजी के आशय को स्पष्ट करूं, यह बता दूं कि आजकल आशापूर्ति की कुश्ती का अखाड़ा सांसारिक क्षेत्र ही नहीं, अपितु धार्मिक क्षेत्र भी है। इस वृत्ति से यह क्षेत्र भी दूषित हो रहा है। सांसारिक क्षेत्र में तो अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिये अच्छे बुरे सभी तरह के साधनों को निर्भयता पूर्वक उपयोग में लाया जाता है, किन्तु धार्मिक क्रियाओं के पीछे भी आजकल वासनापूर्ति का लक्ष्य रखा जाने लगा है। कवि विनयचन्द जी हमारे जैसे इच्छाओं के गुलाम नहीं थे। वे धार्मिक क्षेत्र की पवित्रता को भलीभांति समझते थे तथा इसीलिये इस पद में भगवान् से आशापूर्ति की जो उन्होंने प्रार्थना की है, वह किसी सांसारिक वासना का रूप नहीं, किन्तु इसमें उनके द्वारा हृदय की वह पुनीत अभिलाषा व्यक्त की गई है, जो प्रत्येक प्राणी के लिये कल्याणकारी है—संसार के भव बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने की आशा को हे भगवान्! आप अपनी परम कृपा से शीघ्र पूरी करें।

परन्तु आज के मानव को अपने स्वार्थों को पूरा करने की यह आशा, आकांक्षा, इच्छा, तृष्णा, वासना या कुछ भी कह लीजिये, इतना पागल बना रही है कि ऐसा पागलपन आजतक नहीं देखा गया। यह सत्य है कि अपनी वासनापूर्ति की भागने की मनोवृत्ति मनुष्य में अनादिकाल से है, किन्तु आजकी उसकी मदान्धता ने सामाजिक जीवन में भीषण उथल पुथल मचा दी है। इसका कारण यह है कि आजकी इच्छाओं ने व्यक्तिगत से

सामूहिक रूप धारण कर लिया है और इसीलिये पूर्ति के साधनों में भी सामूहिकता का भाव आने से उसकी भीषणता व बर्बरता अधिक बढ़ गई है। लेकिन यह 'सामूहिकता' व्यापक सामूहिकता नहीं, किन्तु कुछ शक्ति सम्पन्नों की सामूहिकता है, जो अपने मानवता घातक संगठनों द्वारा अशक्त विशाल जन समाज का क्रूर शोषण करवाती है। धार्मिक दृष्टिकोण से यदि सोचा जाय तो इस स्थिति का वास्तविक कारण सहज ही में जाना जा सकता है।

कहा गया है—"तृष्णा वैतरणी नदी"—अर्थात् तृष्णा की वैतरणी नदी से समानता की गई है तथा कथा साहित्य में वैतरणी नदी का वर्णन इस प्रकार किया गया है—यह बहुत सुन्दर व बड़ी नदी है, इसका कहीं अन्त ही नहीं आता, किन्तु इसके जल का सस्पर्श देह के टुकडे २ कर डालने वाला होता है। तृष्णा भी प्रतीत होने में लुभावनी मालूम होती है। मनुष्य इसके पागलपन में अन्धा हो जाता है। तब उसकी जीवन शान्ति में अशान्ति के भीषण अन्धड आया करते हैं, जो केवल उसके जीवन को ही अशान्त नहीं बनाते, बल्कि सारे समाज के लिये भी अभिशाप रूप बन जाते हैं। एक पर एक तृष्णाएं उठती जाती हैं, जिनकी पूर्ति में मनुष्य हर बुरा से बुरा तरीका काम में लाकर समाज में शोषण, अन्याय और उत्पीडन की भयकर आग जलाता है। वर्तमान युद्धों की विनाशकारी युद्धास्त्र—अणु बम, कोस्मिक रेज, हाईड्रोजन बम आदि इस

तृष्णा वृद्धि व पूर्ति हित जोड़े जाने वाले विषमय साधन हैं। जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ कि तृष्णा का यह जहर आध्यात्मिक क्षेत्र में भी काम कर रहा है। यही कारण है कि व्यवहार में धार्मिक चिन्तन व क्रियाएं करने वाला व्यक्ति आन्तरिक विचारधारा से आशापूर्ति के नवीन २ उपायों की खोज करता रहता है।

मैंने कई बार देखा है, कई भाई आते हैं और कहते हैं—महाराज! मंगलिक सुना दीजिये, मैं बाहर व्यापार करने के लिये जा रहा हूँ। मुझे समझ में नहीं आता कि वे मंगलिक द्वारा व्यापार में भरपूर लाभ चाहते हैं और वह लाभ प्राप्त करने में वे चाहें जो तौरतरीके काम में लावें। एक भाई किस्सा सुना रहे थे कि कई व्यक्तियों को उन्होंने यह कहते सुना है कि दिन में एक सामायिक करके वे इतने सन्तुष्ट हो जाते हैं कि परलोक का वैभव पूरी तरह सुरक्षित समझ लेते हैं और इस भव में फिर दुकान पर 'कुछ भी' करने में जरा भी नहीं चाहते हैं। तात्पर्य यह है कि धार्मिक क्रियाओं में वास्तव में जो सात्विक और शुद्ध मनोवृत्ति होनी चाहिये, उसका स्थान तृष्णा ने ले लिया है। अतः उसका नतीजा यह हुआ है कि धार्मिक क्रियाएं भावहीन व थोथे रूप में रह गई हैं।

तृष्णा के इन विनाशक व्यापक प्रसार के कारण मैं बताना चाहता हूँ कि सांसारिक व धार्मिक दोनों क्षेत्रों में दरिद्रता घर कर गई है। इस दरिद्रता में आज मानवता पिस रही है और

पशुता का नगा नाच हो रहा है। भारत की बढ़ती हुई दरिद्रता बता रही है कि किस प्रकार गरीब को खाने, पहिनने और रहने के न्यूनतम साधनों से भी महरूम रहना पडता है और उसे जगह २ ऊपर से परेशानियाँ भुगतनी पडती हैं। रिश्वत, गुलामी, खुशामद, अपनी मानवता—इज्जत, सब को लुटाते हुए भी ये नगे बदन और आधे पेट रहते हैं। न कानून से उनकी रक्षा हो सकती है और न कांग्रेस जैसी संस्था के शासन मे इनकी अवस्था मे कोई अभिवाछित परिवर्तन हो सका है। पूजीवादी राज के वर्तमान न्यायालय तो गरीबों के धन और जीवन को चूसने की दुहरी छूट देते हैं। साहूकार, मिलमालिक, वकील, जागीरदार—सभी गरीबों को चूसने वाली जोंके हैं। वे सम्भार के लिये पिसते है, किन्तु फिर भी निराश, निर्गेह और निर्वाहहीन ही रह जाते हैं। धार्मिक दरिद्रता का वर्णन तो इससे भी अधिक चौंका देनेवाला है। आस्तिकता के अभाव में धर्म को एक ऐसा शस्त्र बना लिया गया है, जिसके नाम पर बहुसख्यक अशक्त जनता को उल्लू बनाया जा सकता है और जिसकी ओट मे प्रवचना, हत्या, चोरी, हिंसा व सब बुराइयों के नाटक मजे से खेले जा सकते हैं और यह सब कुछ करते हैं धर्मात्मा कहलाते हुए।

अत इस निष्कर्ष पर पहुँचना पडेगा कि इस दरिद्रता व दु ख का मूल कारण तृष्णा ही है, जिसकी गुलामी आत्महित

व परहितघातक है। किन्तु इसके विपरीत तृष्णा को जो अपनी दासी बना लेता है, संसार उसका दास हो जाता है।

> आशाया ये दासास्ते, ते दासा सर्वलोकस्य।
> आशा येषां दासी, तेषां दासायते विश्वम्॥

इस प्रकार कवि की अन्तर्भावना में और सांसारिक प्राणियों की मनोवृत्ति में यही अन्तर है कि जहां कवि आशा पर विजय प्राप्त करना चाहता है, वहां सांसारिक प्राणी आशाओं के दास होकर अपने अमूल्य जीवन को व्यर्थ ही में उसके पीछे भाग कर विनष्ट कर डालते हैं। आशा पर विजय मनुष्य को प्रगति के प्रकाशमय पथ की ओर उन्मुख करती है तो आशा की दासता उसे पग २ पर भयंकर ठोकरें खाने को विवश करती है। तृष्णा के जाल में आबद्ध व्यक्ति वास्तविक शान्ति का रसास्वादन नहीं कर सकता। इसके बारे में एक दृष्टान्त दिया जाता है कि एक गरीब व्यक्ति को एक सन्त ने क्रमशः १, १०, १००, १००० रुपये नित्य प्राप्त होने का वरदान दिया। अब ज्यों २ उस व्यक्ति के पास सम्पत्ति की वृद्धि होती गई वह अधिक से अधिक अशान्त होता चला गया। क्योंकि पहले वह निर्वाह के न्यूनतम साधनों में भी एक सन्तोष की भावना लेकर रहता था किन्तु अब ज्यों २ उसकी आय बढ़ती गई, उसकी आवश्यकताओं व इच्छाओं का प्रसार भी बढ़ता चला गया। सुन्दर भोजन, कीमती वस्त्राभूषण व विशाल निवास

स्थान हो जाने पर भी उसकी तृष्णा नये २ पदार्थों के लिये बढती ही गई और उसका जीवन दु खमय हो गया।

सार यह है कि सुख और दु ख का निवास तृष्णा की विजय या उसकी दासता पर निर्भर है। सत्य अर्थ में पदार्थों के अभाव का सद्भाव दु ख सुख का वाहक नहीं। अपनी आवश्यकताओं का ससार जितना अधिक सीमित होगा, उतने ही अशों में हमारा जीवन भी शान्तिमय हो सकता है। लगोटी वाले बाबाजी की कहानी प्रसिद्ध है, ज्यों २ उनकी तृष्णा बढती गई, उनका जजाल भी बढता गया और जजाल बढना अशान्ति का प्रधान कारण है ही। इसी कारण भगवान् महावीर ने फरमाया है—"आशा की ज्वाला इतनी तीक्ष्ण है कि उसकी ओर झुकाव होते ही मानव उसकी लपटों से झुलसने लगता है और अन्त में अपनी चेतना को भस्मीभूत करता हुआ अपने को पतन के गड्ढे की ओर ले जाता है। इसके विपरीत अपने जीवन में सच्ची सफलता वही प्राप्त करता है जो तृष्णा का वशवर्ती न होकर सन्तोष के पथ पर गमन करता है। सत्य यही है कि आशा पर विजय प्राप्त करने से ही मानव की आशा पूर्ण हो सकती है और इसीने उसे पूर्ण शाति भी प्राप्त हो सकती है।

आज जगत में फैली हुई दरिद्रता भी तृष्णा परित्याग से हटाई जा सकती है। जहाँ देश के लाखों मनुष्य अन्न के एक २ दाने के लिये तडपते हों, वहा पूजीपति अपने ऐशोआराम में

रंगीन जिन्दगियाँ बिता रहे हों—यह अतीव लज्जा का विषय है। इसी में उनका कल्याण है कि पूँजीपति ऐसे समय में स्वेच्छापूर्वक धार्मिक गरीबी—आशात्याग के पथ को स्वीकार करें, जिसका अर्थ यह है कि वे अपने विलासी जीवन से अलग होकर अपनी शक्ति और अपने साधन अपने साधनहीन भाइयों की सेवा में प्रस्तुत करें। तृष्णा का त्याग करके सादगी को धारण करने के कारण जिस देश की प्रतिष्ठा थी, (Simple living and high thinking) 'सादा जीवन उच्च विचार' के सिद्धान्त का अनुकरण करने में जो देश अपना विशिष्ट गौरव समझता था आज वही देश तृष्णा के नरक कुण्ड में गिर कर अपने विनाश की कब्र अपने ही हाथों खोद रहा है? किन्तु इसका उत्तर आशावादी देता है और वह यह है कि इस जीवन और उसकी प्रत्येक शक्ति से शोषित, दलित और पतित समाज की शुभ भावपूर्वक हर तरह से सेवा की जाय। इसीमें जीवन की सार्थकता व सरसता भी रखी हुई है। इस सिद्धान्त से आशावाद आनेवाली उस महान् क्रान्ति को रोकना चाहता है, जो शोषण, अत्याचार और अन्याय से पीड़ित जन समाज के शोषण कोप में प्रज्वलित हो कभी भी धू धू करके जल सकती है।

जैन संस्कृति ने कई महान विभूतियों को जन्म दिया है, जिन्होंने विश्व की जन चेतना को उद्बोधित कर एक नये जीवन के नये आदर्श को उपस्थित किया। भगवान महावीर का

आदर्श जीवन आज के विलासितापूर्ण युग मे भी हमें त्याग का मार्ग दिखा रहा है। उनकी अहिंसा, प्रेम, सहानुभूति और राज वैभव के त्याग से सनी हुई ओजस्वी वाणी, जिसने दलित, पीडित और शोषित समाज में शान्ति का प्रादुर्भाव किया, आज भी भारत के सास्कृतिक क्षेत्र में गूज कर भव्य प्रेरणा प्रदान कर रही है।

"सुवण्णरूपस्स उपव्व या भवे,
सिया हु केलाससमा असख्या।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणतिया॥"
(उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ६ गा० ४८)

मनुष्य को धन, वैभव और विलासिता के सम्पन्नतम साधन उपलब्ध होने पर भी उसकी आशा की ज्वाला शान्त नहीं हो सकती। चाहे कैलाश पर्वत के समान असख्य स्वर्ण पर्वत भी प्राप्त हो जाय तो भी तृष्णातुर व धनलिप्सु मानव क्या सन्तोष की सीमा तक पहुच सकता है? जबतक मानव के मानस में इस भावना का कि "अन्य परमाणु मात्र पर मेरा अधिकार नहीं है अर्थात् आत्म द्रव्य के अतिरिक्त ससार में रहा हुआ एक भी परमाणु मेरा नहीं है" जन्म नहीं होगा, तब तक मानव जीवन में सुख की कल्पना आकाश कुसुमवत् रहकर ही परिलक्षित होती रहेगी।

रंगीन जिन्दगियाँ बिता रहे हों—यह बर्ताव लज्जा का विषय है। इसी में उनका कल्याण है कि पूंजीपति ऐसे समय में स्वेच्छापूर्वक धार्मिक गरीबी—आशात्याग के पथ को स्वीकार करें, जिसका अर्थ यह है कि वे अपने विलासी जीवन से अलग होकर अपनी शक्ति और अपने साधन अपने साधनहीन भाइयों की सेवा में प्रस्तुत करें। तृष्णा का त्याग करके सादगी को धारण करने के कारण जिस देश की प्रतिष्ठा थी, (Simple living and high thinking) 'सादा जीवन उच्च विचार' के सिद्धान्त का अनुकरण करने में जो देश अपना विशिष्ट गौरव समझता था आज वही देश तृष्णा के गर्त कुण्ड में गिर कर अपने विनाश की कब्र अपने ही हाथों खोद रहा है? किन्तु इसका उत्तर आध्यात्मवाद देता है और वह यह है कि इस जीवन और उसकी प्रत्येक शक्ति से शोषित, दलित और पतित समाज की शुभ भावपूर्वक हर तरह से सेवा की जाय। इसीमें आत्मा की सार्थकता व सरसता भी रही हुई है। इस सिद्धान्त से अध्यात्मवाद आनेवाली उस महान विपत्ति को रोकना चाहता है, जो शोषण, अत्याचार और अन्याय से पीड़ित जन समाज के भीषण कोप से प्रज्वलित हो धधकी सी धू धू करके जल पड़ती है।

जैन महर्षियों ने यह महान विभूतियों को जन्म दिया है, जिन्होंने विश्व की जन चेतना को उद्बोधित कर एक जीवन के नये आदर्श को उपस्थित किया। भगवान महावीर

आदर्श जीवन आज के विलासितापूर्ण युग मे भी हमे त्याग का मार्ग दिखा रहा है। उनकी अहिंसा, प्रेम सहानुभूति और राज वैभव के त्याग से सनी हुई ओजस्वी वाणी, जिसने दलित, पीडित और शोषित समाज में शान्ति का प्रादुर्भाव किया, आज भी भारत के सास्कृतिक क्षेत्र मे गूज कर भव्य प्रेरणा प्रदान कर रही है।

'सुवण्णरूपस्स उपव्व या भवे,
सिया हु केलाससमा असख्या।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगासमा अणतिया॥"
(उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ६ गा० ४८)

मनुष्य को धन, वैभव और विलासिता के सम्पन्नतम साधन उपलब्ध होने पर भी उसकी आशा की ज्वाला शान्त नहीं हो सकती। चाहे कैलाश पर्वत के समान असख्य स्वर्ण पर्वत भी प्राप्त हो जाय तो भी तृष्णातुर व धनलिप्सु मानव क्या सन्तोष की सीमा तक पहुच सकता है? जबतक मानव के मानस में इस भावना का कि "अन्य परमाणु मात्र पर मेरा अधिकार नहीं है अर्थात् आत्म द्रव्य के अतिरिक्त ससार में रहा हुआ एक भी परमाणु मेरा नहीं है" जन्म नहीं होगा, तब तक मानव जीवन में सुख की कल्पना आकाश कुसुमवत् रहकर ही परिलक्षित होती रहेगी।

आज कई विवेकशील व्यक्ति भी परिवार निर्वाह को आशा त्याग का बाधक समझते हैं किन्तु यह एक भ्रममूलक विचार है। उच्च वर्ग में परिवार का जो गठन है, वह एक अस्वाभाविक ढंग पर बना हुआ है और परिणामस्वरूप परिवार के कई सदस्य परावलम्बी रहते हैं। इस परावलम्बन में सारे परिवार का जीवन नष्ट हो जाता है, क्योंकि जिस पर सारे परिवार के निर्वाह का भार होता है, वह तो दबता ही है किन्तु जो उसके आश्रित होते हैं, उनमें भी स्वशक्ति का ह्रास होता जाता है। मजदूर वर्ग की तरह आज सबके परिवार क्यों न बनें, जो आर्थिक दृष्टिकोण से पूर्ण स्वतन्त्र होते हैं। बारह आने की पूणियों का व्यापार करके पूणिया श्रावक को जो आत्मशक्ति और सन्तोष की प्राप्ति होती थी उसे विलास और वैभव का स्वामी महाराजा श्रेणिक क्या समझ सकता था? स्वावलम्बन का सुख कुछ निराला ही होता है। भगवान महावीर ने भी पूणिया श्रावक की प्रशंसा करते हुए महाराजा श्रेणिक को समझाया कि महान् स्वर्णराशि से पूर्ण तुम्हारे कोष पूणिया श्रावक के जीवन की दलाली में भी पूरे नहीं होते। उसका मूल्य चुकाने के लिये तो परिवार व शरीर के मोह तथा तृष्णा की ज्वाला से दूर होने की आवश्यकता है। अपने जीवन में स्वाव लम्बी बन कर तृष्णा से युद्ध करने वाला व्यक्ति ही जीवन के वास्तविक आनन्द को प्राप्त कर सकता है।

स्वेच्छा पूर्वक तृष्णा का त्याग करके सादगी को अपनाने वाला ही महापराक्रमी होता है। प्राप्त साधनों का व्यापक लोकहित के लिये परित्याग कर देने में ही त्याग की वास्तविक महत्ता रही हुई है। जो व्यक्ति निर्भयता पूर्वक ससार की किसी भी कठोरतम शक्ति का सफलता पूर्वक प्रतिरोध कर सकता है वही धर्म के आन्तरिक रहस्य को भी प्रकाशित करने में सफलीभूत हो सकता है। बाह्य शक्ति व शरीर बल के आश्रय में पैठने वाला व्यक्ति ऐसे प्रहारों के सामने अपने घुटने टेक देता है। अर्जुनमाली के कठोर एव तीक्ष्ण प्रहारो से भयभीत होकर ही महाराज श्रेणिक ने नगर द्वार बन्द करवाये थे किन्तु तृष्णा के विजेता व आत्मशक्ति के स्रोत सुदर्शन सेठ ने उस राक्षसी वृत्ति को परास्त कर दिया। अत तृष्णा का त्याग ही वीर मानव का भोजन है, परमात्मा का प्रसाद है तथा आध्यात्म धर्म का प्रमुख आधार।

आज विश्व को भौतिकवादी क्रूरता से मुक्त होने के लिये तृष्णा त्याग, मानव प्रेम और विश्व बन्धुत्व की आवश्यकता है, जो मानव समाज में समता व बन्धुता का वातावरण प्रसारित कर सके। गरीब और धनवान् का आर्थिक भेद भी विनष्ट होकर ससार की अन्य सभी विषमताए भी दूर हो सके।

कवि भी उक्त पद्य में यही प्रार्थना करता है कि—"हे प्रभो! मेरी यह आशा पूर्ण हो कि मैं तृष्णा पर विजय प्राप्त कर सकूँ। यदि हम भी सहृदयता से इसी तरह प्रार्थना करेंगे तो हमारी

मल्लि जिन बाल ब्रह्मचारी

नारी और पुरुष एक ही रचना के दो रूप है, अत दोनों की आन्तरिक प्रतिभा और विकास की क्षमता में प्राय कोई अन्तर नही होता। दोनों जीवन में एक दूसरे के पूरक हैं और साथ साथ आगे बढने वाले जीवन साथी हैं। अत जो शक्ति सचय का सामर्थ्य, उन्नति का उत्साह तथा साध्य प्राप्ति की योग्यता पुरुष में है, वही सब कुछ नारी में भी है। उपमा दी जाती है नारी और पुरुष समाज रूपी रथ के दो पहिये हैं। रथ में यदि एक पहिया छोटा और दूसरा बडा है या एक पहिया कमजोर या दूसरा मजबूत है तो रथ विशेष नहीं चल सकता। उसी तरह समाज की स्वस्थ गति के लिये भी नारी और पुरुष की समानता आवश्यक है। यहा कवि विनयचन्द जी भगवान् मल्लिनाथ की प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि भगवान् मल्लिनाथ

का जीवन नारी की पूर्णता का सजीव उदाहरण है। आत्म-विकास की उच्चतम श्रेणियों में पहुँच कर मुक्ति की मंजिल में प्रवेश करने वाले भगवान् मल्लिनाथ ने यह दिखा दिया कि नारी भी जीवन के चरम विकास को प्राप्त कर सकती है और जो यह कहते हैं कि पुरुष के समक्ष नारी अबला है और प्रगति की दौड़ में उसके साथ नहीं ठहर सकती, उन्हें इस उदाहरण से यह समझ लेना चाहिये कि उनका कथन कितना भ्रान्तिपूर्ण है। वे नारी के तेज को पहिचानने में कितने अज्ञान रहे हैं?

जैनधर्म अपने सिद्धान्तों के मूल से ही एक प्रगतिशील दर्शन रहा है और यह गौरव के साथ कहा जा सकता है कि इसने नारी के यथोचित सम्मान को बराबर निभाया है। गुण विकास के सिवाय भेदभाव का कोई दृष्टिकोण जैनधर्म में कभी भी नहीं रहा। जैनधर्म जातिवाद, सम्प्रदायवाद जैसी संकुचित विचार प्रणालियों से तो कतई अलग रहा ही है, परन्तु लिंगी भेदभाव का अभाव इसकी अन्य बड़ी विशेषता है। धार्मिक क्षेत्र में नारी का नारी होने के नाते कोई अन्तर नहीं है। संघ में भी नारी को समान स्थान प्रदान किया गया है—साधु साध्वी, श्रावक और श्राविका। एक साध्वी सभी श्रावक और श्राविकाओं द्वारा वन्दनीय होती है तथा साध्वी सभाओं में व्याख्यान देकर धर्म प्रचार करती है। कठिन तपस्याएं और मासखमणादि तपरूप धर्म को पुरुष की तरह पालन करती है। साधारण रूप में नारी और पुरुष की शक्तियाँ समान मानी

गई हैं और दोनों को ऊँचा से ऊँचा उद्देश्य प्राप्त हो सकता है। परन्तु जैन समाज में एक वर्ग ऐसा भी है जो नारी को मुक्तिगामिनी नहीं मानता है। वस्तुतः यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सहज ही यह स्पष्ट प्रतीत हो सकता है कि नारी को मुक्तिगामिनी नहीं मानने वाले वर्ग ने स्त्रियों पर द्वेष करने के कारण नहीं, बल्कि मानसिक कल्पना का पोषण करने के लिये हठाग्रह करने से ही ऐसी मान्यता कायम की है कि स्त्री को मोक्ष नहीं मिलता, क्योंकि वे वस्त्र नहीं त्याग नहीं सकतीं और मोक्ष प्राप्त करने के लिये वस्त्र त्याग अनिवार्य है; क्योंकि जो वस्त्र नहीं त्यागता, वह निष्परिग्रही नहीं बन सकता पर जो निष्परिग्रही नहीं, वह संयम व्रत का पालन नहीं कर सकता। इसीलिये असंयमी ही रहने के कारण स्त्री को मोक्ष नहीं हो सकता। उस वर्ग द्वारा एकान्त रूप से ऐसी मान्यता मानना शास्त्र सम्मत नहीं कहा जा सकता। महावीर स्वामी के समय में भी यह सिद्धान्त था कि वस्त्रत्यागी और वस्त्रधारी दोनों ही मोक्ष पद के अधिकारी हो सकते हैं। वस्त्रत्यागी साधु 'जिन कल्पी' तथा वस्त्रधारी साधु 'स्थविरकल्पी' कहलायेगा। जिनकल्पियों के आचार विचार में नगर में रहना, अधिक बोलना, उपदेश देना, शिष्य करना आदि निषिद्ध है, वे केवल आत्मध्यान में ही तल्लीन रहें। स्थविरकल्पियों के लिये ये सब द्वार खुले हैं। यह नियम बहुत पुराने समय से चला आ रहा है, किन्तु महावीर स्वामी के करीब ६०० वर्ष बाद इस नवीन वर्ग

का जन्म हुआ। इसके सम्बन्ध में एक कथा भी प्रसिद्ध है कि एक क्षत्रिय को युद्ध में शानदार विजय प्राप्त करने के उपलक्ष में राज्य की ओर से पूर्ण स्वाधीनता दी गई। वह कुछ भी करे—उसके लिये कोई प्रतिबन्ध न था। परिणाम यह हुआ कि वह अत्यधिक स्वच्छन्द हो गया और व्यभिचारादि दुर्व्यसनों में बुरी तरह फंस गया। हमेशा रात को बड़ी देर से वह घर लौटता। परन्तु उसकी पत्नी बड़ी ही पतिव्रता थी। पति को खिलाने पर खाती और सुलाने पर सोती, सुबह जल्दी उठ कर गृह कार्य करती। इस अनियमितता से उसका स्वास्थ्य गिरने लगा। यह देख उसकी सासु ने इसका कारण पूछा। उसने इतना ही कहा कि उनके कारण होने वाली अनियमितता का यह नतीजा है। माँ ने देखा कि उसका पुत्र गलत रास्ते पर आ रहा है। उस दिन उसने घर का दरवाजा बन्द कर दिया व स्वयं पहरा बैठ गई। जब वह देर से आया तो माँ ने बुरी तरह फटकारा तथा वहां कहीं चले जाने को कहा, जहां इतनी रात तक भी दरवाजे खुले रहते हों। पुत्र भी हठी व अभिमानी क्षत्रिय था। लज्जा के मारे मुंह भी न दिखा सका और वहां से उल्टे पांव लौट गया।

अचानक उसे एक कुटिया दिखाई दी, जिसका दरवाजा उस समय भी खुला हुआ था। वहां उसे एक महात्मा के दर्शन हुए और उपदेश सुनकर वह उनके पास दीक्षित हो गया। वह बड़ा प्रतिभाशाली और विद्वान् मुनि हो गया। एक बार

काश्मीर नरेश ने विद्वत् परिषद् का आह्वान किया और वहां वादविवाद में ये क्षत्रिय मुनि सर्वोच्च रहे। इसपर नरेश ने उन्हें एक रेशमी कम्बली उपहार स्वरूप दी। उसे देख उनके गुरु ने कहा—पहन कर काम में ले लो। रेशमी कम्बली के लेने और फिर भी काम न लेने पर अपना क्षोभ प्रकट किया। इस पर भी शिष्य उस कम्बली को काम में नहीं लेता तथा उसे बडी ही सावधानी से बन्द रखता। गुरुजी ने देखा इसका मोह अधिकाधिक बढता जा रहा है, जो इसे सयम से गिराने वाला है, क्योंकि वे जानते थे कि परिग्रह का वास्तविक और आन्तरिक दृष्टिकोण वस्तुमोह से है, न कि वस्तु के गुण वा परिमाण से। आज भी गृहस्थियों में ही नहीं, किन्तु कई साधुओं में भी देखा जाता है कि अच्छी चीजों को वे सम्हाल कर रखते हैं और उन्हें उपयोग में नहीं लाते। खास तौर से साधु के लिये यह वृत्ति बडी ही घातक होती है। गुरुजी शिष्य को इस मोह वृत्ति से छुडाने के लिये उपाय सोचने लगे।

एक दिन शिष्य बाहर गया हुआ था कि गुरुजी ने उस रेशमी कम्बली के कई टुकडे कर दिये और एक २ टुकडा सभी शिष्यों को बांट दिया। इस पर गुरु शिष्य में विवाद उत्पन्न हो गया और शिष्य ने कहा—यदि रेशमी कम्बली परिग्रह है तो सूती वस्त्र भी परिग्रह है अत सभी परिग्रह छोडना हितकर है यह नग्न हो गया और उसने अलग होकर एक नवीन सम्प्रदाय खडी कर दी। इसमें कोई भी कारण रहा हो, परन्तु यह निश्चय है कि

परिग्रह ममत्व में होता है, वस्तुविशेष तो उसका निमित्त मात्र होती है। लंगोटी वाले बाबाजी की कहानी प्रसिद्ध है। एक लंगोटी परिग्रह का रूप हो सकती है, वहाँ असंख्य धनराशि व षट्खण्ड के अधिपति होने पर भी भरत महाराज की उसमें ममत्व बुद्धि नहीं होने से उन पर परिग्रहत्व का बोझ नहीं था। कहा है—"परिग्रहत इति परिग्रह"। ठाणांग सूत्र में तीन प्रकार के परिग्रह बतलाये हैं—१ कर्म परिग्रह, २ शरीर परिग्रह ३ उपधि परिग्रह। समय २ पर किये हुए शुभाशुभ संस्कारों को ग्रहण करना कर्म परिग्रह कहलाता है। शरीर ग्रहण किया हुआ है, इस स्थूल शरीर को छोड़ने में हम असमर्थ हैं इसलिये इसे शरीर परिग्रह कहते हैं। संयम की सहायता के लिये जिस वस्तु का ग्रहण किया, उसे उपधि परिग्रह कहते हैं। उपधि परिग्रह के लिये चौदह उपकरण बताये हैं, जिन्हें मर्यादानुसार रखने पर संयम की अवहेलना नहीं हो सकती। वस्त्र नहीं त्यागने वाला साधु चौदह उपकरण रखते हुए भी संयमी होता है। "वस्त्र त्यागने पर ही कोई संयमी हो सकता है"—इस सिद्धान्त को मानने वाले भी कमण्डलु और मोरपिच्छी संयम की सहायता के लिये रखते हैं, जिन्हें हम उपधि परिग्रह कहते हैं। यदि इनको वे परिग्रह नहीं मानते तो वस्त्र, जिसका स्थान भी उपधि परिग्रह में ही है, कैसे परिग्रह रूप मान लेते हैं? यदि वस्त्र परिग्रह है तो मोरपिच्छी और कमण्डलु भी परिग्रह हैं और उनके सिद्धान्तानुसार ही वे भी मोक्ष के अधिकारी नहीं

रहते। अत यह स्पष्ट है कि मूर्च्छा वृत्ति का नाम ही वास्तव में परिग्रह है। अत शुद्ध सयमाराधना के लिये मूर्च्छा के त्याग की आवश्यकता है। जैसे शरीर पर ममत्व न रखते हुए भी शरीर के अस्तित्व में ही सयम की आराधना की जा सकती है, उसी प्रकार अन्य उपकरण भी सयम पालन में जो मर्यादा और नियमानुसार आवश्यक होते हैं, वे परिग्रह रूप नहीं कहला सकते। सयम के लिये अनिवार्य जो है, वह है ममत्व बुद्धि और मूर्च्छा-वृत्ति का त्याग। यही सयमाराधन और मोक्ष प्राप्ति का प्रशस्त पथ है।

अत इस असगत व अनुपयुक्त तर्क द्वारा स्त्री को मुक्ति के अधिकार से वञ्चित बताना कहाँ तक नारी सम्मान के प्रति न्याय करना है? सयम की सहायता के लिये उपकरणादि रखने पर जिस प्रकार पुरुष मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, वैसे ही स्त्रियाँ भी मोक्षगामिनी हो सकती हैं। मल्लिनाथ भगवान् इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

इसके अतिरिक्त आज तो सामाजिक क्षेत्र में भी स्त्रियों की बड़ी ही दयनीय अवस्था है। उनको पग पग पर तिरस्कार मिलता है और मिलती है जीवन की कठोर भर्त्सनाएं। जीवन में उन्हें समुचित विकास के साधन भी उपलब्ध नहीं है कि वे प्रगति की दिशा में आगे बढ़ सकें। उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व के अस्तित्व को ही आज का समाज महसूस नहीं करता, जिसका परिणाम यह होता है कि समाज और संस्कृति के अभ्युदय में

उनका सहयोग प्राप्त नहीं हो सकता और यह पहिले ही कहा जा चुका है कि उस अभ्युदय के पुरुष और नारी समान अंग हैं। एक अंग के सहयोग के अभाव में कार्य का पूर्णतया प्रतिपादन हो सके—इसमें आश्चर्य ही क्या?

प्राचीन काल में नारी के सम्मान व स्थान पर एक नजर दौड़ायेंगे तो स्पष्ट विदित होगा कि आज हम इस मामले में कितने गिर चुके हैं? देवनागरी लिपि का मूल नाम ब्राह्मी लिपि था। यह नाम भगवान् ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी के पीछे पड़ा, क्योंकि ब्राह्मी ही, जिसे सरस्वती भी कहते हैं, भाषा और ज्ञान का उद्गम केन्द्र थी। जहाँ एक नारी सम्पूर्ण संसार को समझने और बोलने की शक्ति दे सकी, वहाँ यदि आज नारियों को उचित शिक्षा व सम्यग्दिशा हो तो कोई आश्चर्य नहीं कि इनकी शक्ति संसार में एक नवयुग का उदय कर सकती है। नारी एक अपूर्व शक्ति है परन्तु आजके तिरस्कृत जीवन ने उनके हृदय में हीनता की बुरी भावना को उत्पन्न कर दिया है, और यही उनके पतन को और अधिक स्थायी बनाती जा रही है। जब तक स्त्रियाँ अपने योग्य स्वतन्त्र व्यक्तित्व का अनुभव नहीं करेंगी और समाज उन्हें विकसित करने में अपना पूर्ण सहयोग नहीं देगा, तब तक नारी विकास के अभाव में समाज का आधा अंग शून्य, अविकसित और पंगु ही बना रहेगा। देखिये इस कविता में कुछ ऐसा ही उद्बोधक आदर्श मिलेगा—

बहना! आपाँ ओछी नी हाँ!
ओछी मत रो, कणी कह्यो के नीच जात नारी हाँ!
नारी हा तो कई वियो, माँ नारा री नारी हाँ!
सुख मे सदा पिछाडी री हाँ, दुख में आगे री हाँ!
माथो काट हाथ सू मेल्यो, प्रीतम पेली गी हाँ!
बहना! आपाँ ओछी नी हाँ!

नारी का जीवन एक दृष्टि से समाज का वरदान है। नारी के विभिन्न रूप जीवन के विभिन्न पहलुओं को हल करते हैं और उसे विभिन्नता में एकता और एकता में विभिन्नता का सौन्दर्य प्रदान करते हैं। नारी कन्या है—निर्दोष और भोली कन्या, जो स्नेह का केन्द्रबिन्दु बनी होती है। नारी पत्नी है—पति को मार्गदर्शन कराने वाली सिंहनी—शक्ति का प्रतिरूप। नारी माता है—वात्सल्य का उमड़ता हुआ सागर, संसार को अपनी शीतल छाया में विश्राम देने वाली मृदुलता की गौरव-मयी प्रतिमा। नर के जीवन की प्रधान व प्रारम्भिक शिक्षिका यह माता किस प्रकार जीवन को तेजस्वी व वीरता से ओतप्रोत बनाने में अपूर्व सहयोग देती है? देखिये वीर माताएं अपने बालकों के तेजोमय जीवन के लिये कैसी लोरियां गाती हैं —

बालो, पालो बाहिर आयो, माता बैण सुणावे यूं।
मोरी फूल दिखाड़े रे बाला में थारी सगरी ढूंढो यूं।
मोरी सूतो बाले मूगे, माता बैण सुणावे यूं।
धोला दूध [illegible] की काटे दाग न लागै यूं।

सोवन पाल्णे वालो झूलै, झोल्त झोलत बोली यू।
उतरी वेर हिल्लाइजे रे धरती, जितरा मैं थने झोला यू।

ऐसे ही बालक, जिनके बाल हृदय वीरता से कूट कूट कर भरे गये हैं राणा प्रताप, शिवाजी और दुर्गादास होते हैं। यही वीरता अन्य क्षेत्रों में जटिल त्याग और जीवन की ज्योति के रूप में चमकती है। आज ऐसी ही माताओं की आवश्यकता है, जो पुत्रों में धर्मवीरता के भाव भरें और दुनिया के इस बिगड़ते हुए जमाने को उन्नति की राह पर लावें। आज तो माताएं प्रारम्भ से ही बच्चों में कायरता के संस्कार डाल कर उनके दिलों को भूतादि का भय बता कर हमेशा के लिये कमजोर बना देती हैं। इस प्रकार माताएं अपने मातृत्व के कर्त्तव्य को पूरा नहीं करतीं, जिसके कारण बालकों का विकास शुरू में ही कुचल दिया जाता है।

आज की सामाजिक रूढ़ियों की ओर भी देखें तो एक दु:खभरी आह निकलती है कि किस प्रकार नारी का वास्तविक जीवन इनके नीचे दब कर विकृत हो जाता है! पर्दा प्रथा ही कितनी अनुपयुक्त और उपहासास्पद रूप में चल रही है? अजनबियों और अपरिचितों के सामने तो बहिनें पर्दा नहीं करेंगी, जिनका स्वभाव एवं चरित्र विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता है, किन्तु अपने बड़ों और सम्बन्धियों के समक्ष पूरा पर्दा करेंगी, जिनके चरित्र का पूरा परिचय उन्हें होता है। अब यह कैसे उनकी लज्जा की रक्षा करता है— यह समझ में नहीं

जाता। इसी प्रकार अन्य कई ऐसी भीषण कुरीतियां हैं जो नारी जीवन में तरह तरह की बुराइयां पैदा करती हैं। आज समय की पुकार है कि बहनें अपने तेज और अपनी अद्भुत शक्ति को समझें और अपने आपके जीवन को उन्नत तथा समाज के लिये हितकारी बनावें। वे याद करें—उस हाडी कन्या को—जिसने अपने पति चूडावत सरदार को अपने उज्ज्वल चरित्र की निशानी अपना सिर काट कर दी। वे याद करें—उस पद्मिनी को, जिसने अपनी आत्मा को बेचने की बजाय जौहर की जाज्वल्यमान ज्वाला में जल जाना अधिक पसन्द किया। वे याद करें—उन सीतादि सतियों के दिव्य चरित्र को—जिन्होंने भीषण विपत्तियों का मुकाबिला करके भी अपनी आन और शान की रक्षा की तथा पुरुषों को उन्नति की राह दिखाती रहीं। और आज भी वे यह समझें कि उनके भीतर भी वही ज्योतिर्मय नारीत्व छिपा है जो कुसंस्कारों और विकारों के काले बादलों की ओट में दिखाई नहीं देता।

इस युग में नारियां पुरुषों के साथ समानता का नारा उठा रही हैं और अपनी अवस्था के लिये पुरुष वर्ग को कोसती हैं। यह उनके विकास के लिये उचित नहीं है। वे बिना दूसरों की सहायता की अपेक्षा किये स्वयं की कमजोरियों को स्वयं समझें और अपने सद्गुणों व उज्ज्वल जीवन से अपने लिए अपना सम्मानप्रद स्थान प्राप्त कर लें। मांगने से सम्मान प्राप्त नहीं मिलेगा यह तो काम करने से मिलेगा, अतः उन्नति की सही

सोहन पालणे बालो झूले, झोल्त झोल्त बोली यूं।
उतरो बैर हिलाइजे रे धरती, जितरां में थने झोला यूं।

ऐसे ही बालक, जिनके बाल हृदय वीरता से कूट कूट कर भरे गये हैं, राणा प्रताप, शिवाजी और दुर्गादास होते हैं। यही वीरता अन्य क्षेत्रों में जटिल त्याग और जीवन की ज्योति के रूप में चमकती है। आज ऐसी ही माताओं की आवश्यकता है, जो पुत्रों में धर्मवीरता के भाव भरें और दुनिया के इस बिगड़ते हुए जमाने को उन्नति की राह पर लावें। आज तो माताएं प्रारम्भ से ही बच्चों में कायरता के संस्कार डाल कर उनके दिलों को भूतादि का भय बना कर हमेशा के लिये कमजोर बना देती हैं। इस प्रकार माताएं अपने मातृत्व के कर्त्तव्य को पूरा नहीं करतीं, जिसके कारण बालकों का विकास शुरू में ही कुचल दिया जाता है।

आज की सामाजिक रूढ़ियों की ओर भी देखें तो एक दुःखभरी आह निकलती है कि किस प्रकार नारी का वास्तविक जीवन इनके नीचे दब कर विकृत हो जाता है? पर्दा प्रथा भी कितनी अनुपयुक्त और उपहासास्पद रूप में चल रही है? अजनबियों और अपरिचितों के सामने तो बहिनें पर्दा नहीं करेंगी, जिनका स्वभाव एवं चरित्र विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता है, किन्तु अपने बड़ों और सम्बन्धियों के सामने पूरा पर्दा करेंगी, जिनके चरित्र का पूरा परिचय उन्हें होता है। अब यह कैसे उनकी लज्जा की रक्षा करता है—यह समझ में नहीं

आता। इसी प्रकार अन्य कई ऐसी भीषण कुरीतिया हैं, जो नारी जीवन में तरह तरह की बुराइयां पैदा करती है। आज समय की पुकार है कि बहनें अपने तेज और अपनी अद्भुत शक्ति को समझें और अपने आपके जीवन को उन्नत तथा समाज के लिये हितकारी बनावें। वे याद करें—उस हाडी कन्या को—जिसने अपने पति चूडावत सरदार को अपने उज्ज्वल चरित्र की निशानी अपना सिर काट कर दी। वे याद करें—उस पद्मिनी को, जिसने अपनी आत्मा को बेचने की बजाय जौहर की जगमगाती ज्वाला में जल जाना अधिक पसन्द किया। वे याद करें—उन सीतादि सतियों के दिव्य चरित्र को—जिन्होंने भीषण विपत्तियो का मुकाबिला करके भी अपनी आन और शान की रक्षा की तथा पुरुषों को उन्नति की राह दिखाती रहीं। और आज भी वे यह समझें कि उनके भीतर भी वही ज्योतिर्मय नारीत्व छिपा है, जो कुसस्कारों और विकारों के काले बादलों की ओटमे से दिखाई नही देता।

इस युग में नारिया पुरुषो के साथ समानता का नारा उठा रहीं हैं और अपनी अवस्था के लिये पुरुप वर्ग को कोसती हे। यह उनके विकास के लिये उचित नहीं है। वे बिना दूसरों की सहायता की अपेक्षा किये खद की कमजोरियों को खद समझें और अपने सद्गुणी व उज्ज्वल जीवन से अपने आप अपना सम्मानप्रद स्थान प्राप्त कर लें। मांगने से समान स्थान नही मिलेगा, वह तो काम करने से मिलेगा, अत उन्नति की सही

दिशा में वे अपने आपको मोड़ें। आधुनिक शिक्षा भी लड़कियों में कुछ ऐसे उच्छृंखलता व विलासिता के भाव भरती है। अपना जीवन सुधारने की अपेक्षा वे अपने आपको बुराइयों की अधिक उलझनों में ही फंसा डालती हैं। अतः समाज का पूरा विकास तभी होगा जब सुशिक्षा और सच्चे संस्कारों के द्वारा समाज का यह आधा अंग विकसित हो जायगा।

मन्दसौर (मालवा),] [१२-६-४८

: ७ :

जीवन के दो पक्ष : भावना और व्यवहार

श्री श्रेयांस जिन अन्तरयामी आतमरामी नामी रे

वास्तव में जीवन एक साधन स्वरूप है, जिसे किसी निश्चित साध्य के पीछे विसर्जित कर देने में ही उसकी विशेषता रही हुई है। यदि साध्य तक पहुँचाने में साधन शिथिल व अयोग्य प्रतीत होता है तो साधन के प्रति साधक को सचेत होने की आवश्यकता होती है। जीवन का साध्य मुक्ति है। जो आत्मा का मूल स्वभाव है। आत्मा को विकारों के मल से मुक्त करके उसी परम शुद्धता में स्थायित्व ग्रहण करने का नाम मुक्ति है। मुक्ति साध्य, जीवन साधन और आत्मा साधक है। साध्य गतिशील नहीं होता, वह तो सुनिश्चित होता है अत उसके प्रति दृष्टि ठहरा कर साधक को अपने साधन काम में लेने होते हैं। साधक को साधन में परिवर्तन व शुद्धिकरण भी उसी केन्द्र बिन्दु के अनुसार करने होते हैं। अत हमारे लिये मुक्ति साध्य

है, परन्तु उसके साधनों में विभिन्न परिवर्तन होते रहते हैं। इसी बात को लेकर हमारे जीवन की समस्या पर हमें गहराई से सोचना चाहिये और इस सत्य को समझ लेना चाहिये कि हम अपने जीवन को कैसे पथ की ओर अग्रसर करें ताकि हमें अपना मुक्ति का उद्देश्य प्राप्त हो सके।

कवि श्रेयान प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहता है कि भगवन्! तुम अन्तरयामी हो—सबके हृदयस्थ विचारों को बिना प्रकटीकरण के ही जान लेते हो और आत्मरामी आत्म भावों में रमण करने वाले हो। यह अध्यात्मवाद का स्पष्ट मत है कि जो निजात्मा को पूर्ण रूप से पहिचान लेता है, उसके लिये मुक्ति का मार्ग आसान हो जाता है। अपने आत्मभावों में रमण करने से निज की शक्ति का अनुभव होता है और उस अन्तःप्रेरणा की अद्भुत प्रेरणा से उसमें ऐसा साहस केन्द्रित हो जाता है ऐसा ज्ञान और क्रिया का सम्मिश्रण हो जाता है कि फिर उसके मार्ग की बाधाएँ नष्टप्राय हो जाती हैं। आत्मरामी होने से अपने अंतर का उत्थान मार्ग तो शोधा ही जाता है परन्तु उसके साथ ही आत्मशक्ति और उसके सद्भाव का ऐसा दृढ़ अनुभव होता है कि जिसके द्वारा अन्य आत्माओं के मनोभावों और प्रवृत्तियों को समझने का ज्ञान उत्पन्न होता है। अनुभव ही यथार्थतः किसी भी देश की गहराई को पहिचानने की कसौटी का काम करता है और इसी तरह आत्मभावना की परिपक्वता के फलस्वरूप आत्मा आत्मरामी व अन्तरयामी

बन जाता है। महान् विभूतियों के उदाहरण ही हमें हमारे विकास के मार्ग को अधिक स्पष्टता से समझने में सहायता देते हैं। श्रेयास प्रभु के आदर्श को इसी कारण कवि अपने उद्गारों के साथ मिलाते हैं।

परन्तु सासारिक प्राणी अधिकतया आत्मरामी होने की अपेक्षा इन्द्रियरामी होते हैं। इन्द्रियरामिता ही भौतिकवाद को बढावा देती है, जिसके कारण भयकर युद्ध और उसके भीषण तांडव देखने को मिलते हैं। नैतिक पतन इससे होता है और पूँजीवाद आदि स्थितियों से समाज रुग्ण हो जाता है। मानवता की भावनाओं का ह्रास होता है और ससार में स्वार्थान्धता का ऐसा दर्दनाक दौर चलता है, जिसमें युग युगान्तर से निर्मित सभ्यताए और सस्कृतियाँ धूमिल हो जाती हैं। सांसारिक व्यक्तियों की इस इन्द्रियरामिता—बाह्य सुखों में मूर्च्छित होने के दृष्टिकोण पर नियत्रण होने से ही ससार की नियमित प्रगतिशीलता बराबर बनी रह सकती है। बाह्य सुख, जो केवल सुखाभास है, आत्मा को इस प्रकार प्रवचित कर देता है कि उसे अन्तर की दिव्यता के समीप नहीं जाने देता। परन्तु मुनि लोग इस रहस्य को समझते हैं और आत्मरामी बनने के प्रयास की ओर जुट पडते हैं। वास्तव में मुनि भी वही है, जो बाह्य सुख के नग्न दु ख को समझे और आत्मरामिता के सनातन सुख की शोध में अपना सब कुछ न्योछावर करते हुए अविराम गति से कदम बढा सके। मुनि, बाहर से देखने को सांसारिक

है, परन्तु उसके साधनों में विभिन्न परिवर्तन होते रहते हैं। इसी बात को लेकर हमारे जीवन की समस्या पर हमें गहराई से सोचना चाहिये और इस सत्य को समझ लेना चाहिये कि हम अपने जीवन को कैसे पथ की ओर अग्रसर करें ताकि हमें अपना मुक्ति का उद्देश्य प्राप्त हो सके।

कवि श्रेयास प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहता है कि भगवन्! तुम अन्तरयामी हो—सबके हृदयस्थ विचारों को बिना प्रकटीकरण के ही जान लेते हो और आत्मरामी आत्म भावों में रमण करने वाले हो। यह अध्यात्मवाद का स्पष्ट मत है कि जो निजात्मा को पूर्ण रूप से पहिचान लेता है, उसके लिये मुक्ति का मार्ग आसान हो जाता है। अपने आत्मभावों में रमण करने से निज की शक्ति का अनुभव होता है और उस अन्तर्शक्ति की अद्भुत प्रेरणा से उसमें ऐसा साहस केन्द्रित हो जाता है ऐसा ज्ञान और क्रिया का सम्मिलन हो जाता है कि फिर उसके मार्ग की बाधाएं नष्टप्राय हो जाती हैं। आत्म रामी होने से अपने जीवन का उत्थान मार्ग तो शोधा ही जाता है परन्तु उसके साथ ही आत्मशक्ति और उसके सञ्चालन का ऐसा दृढ़ अनुभव होता है कि जिसके द्वारा अन्य आत्माओं के मनोभावों और प्रवृत्तियों को समझने का ज्ञान उत्पन्न होता है। अनुभव ही यथार्थतः किसी भी क्षेत्र की गहराई को पहिचानने की कसौटी का काम करता है और इसी तरह आत्मसाधना की परिपक्वता के फलस्वरूप आत्मा आत्मरामी से अन्तरयामी

बन जाता है। महान् विभूतियों के उदाहरण ही हमें हमारे विकास के मार्ग को अधिक स्पष्टता से समझने में सहायता देते हैं। श्रेयास प्रभु के आदर्श को इसी कारण कवि अपने उद्गारों के साथ मिलाते हैं।

परन्तु सासारिक प्राणी अधिकतया आत्मरामी होने की अपेक्षा इन्द्रियरामी होते है। इन्द्रियरामिता ही भौतिकवाद को बढावा देती है, जिसके कारण भयकर युद्ध और उसके भीषण तांडव देखने को मिलते है। नैतिक पतन इससे होता है और पूँजीवाद आदि स्थितियों से समाज रुग्ण हो जाता है। मानवता की भावनाओं का ह्रास होता है और ससार में स्वार्थान्धता का ऐसा दर्दनाक दौर चलता है, जिसमें युग युगान्तर से निर्मित सभ्यताए और सस्कृतियाँ धूमिल हो जाती है। सांसारिक व्यक्तियों की इस इन्द्रियरामिता—बाह्य सुखों में मूर्च्छित होने के दृष्टिकोण पर नियत्रण होने से ही ससार की नियमित प्रगतिशीलता बराबर बनी रह सकती है। बाह्य सुख, जो केवल सुखाभास है, आत्मा को इस प्रकार प्रवचित कर देता है कि उसे अन्तर की दिव्यता के समीप नहीं जाने देता। परन्तु मुनि लोग इस रहस्य को समझते हैं और आत्मरामी बनने के प्रयास की ओर जुट पडते है। वास्तव में मुनि भी वही है, जो बाह्य सुख के नग्न दु ख को समझे और आत्मरामिता के सनातन सुख की शोध में अपना सब कुछ न्योछावर करते हुए अविराम गति से कदम बढा सके। मुनि, बाहर से देखने को सांसारिक

प्राणियों के अनुसार ही खाते, सुनते, देखते और उसी प्रकार सभी इन्द्रियों का उपयोग करते है परन्तु उनकी आत्मा इन सबसे दूर निजत्व के विशाल रहस्य को समझने में लगी रहती है, क्योंकि इन्द्रियों के उपयोग में भी उनका यही लक्ष्य बना रहता है कि यह उपयोग उनकी साध्य प्राप्ति में ही योग दे रहा है। इन्द्रिय सुख को वे त्याज्य समझते हैं। यही अन्तर होता है *मुनि और साधारण सांसारिक प्राणी में*!

इस सारे विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन रूपी साधन को इस प्रकार की दिशा की ओर मोडने में ही उसकी सफलता रही हुई है कि वह मुक्ति रूपी साध्य को प्राप्त कर सके। प्रत्येक क्रिया इसी दृष्टिकोण से अपनाई जाय कि *इससे आत्मस्वरूप को समझनेमें सरलता होगी*। *आत्मरामिता* की वृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा एव ऐसी क्रिया ही *अध्यात्म* क्रिया कहलाती है। क्रिया का यही आन्तरिक रूप आत्मा को मुक्ति की राह की ओर ले जाता है व जीवन को तपे सोने का सा निखार कर उसे पूर्ण *उज्ज्वलता* प्रदान करता है। जैसा ऊपर कहा गया है कि मुनि बनने से मुनिवेश ग्रहण करने का तात्पर्य्य नहीं है। क्योंकि बिना आत्मा का भान किये यदि कैसी भी कठिन क्रिया की जाती है तो वह अन्धवत् निष्प्रयोजन ही रहती है। यही कारण है कि *आत्मस्वरूप* को प्रकट करने वाली क्रिया को ही अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। कवि विनयचन्द जी भी कहते हैं—

नाम अध्यात्म, ठवण अध्यात्म, द्रव्य अध्यात्म छंडो रे
भाव अध्यात्म निज गुण साधे, तो तेहशू रट मडो रे

तात्पर्य यह है कि अध्यात्म के नाम, स्थापना या द्रव्यरूपता से कोई सार नहीं निकलता। नाम से कोई मुनि कहलाता हो, पर मुनि भाव यदि उसमें लेशमात्र नहीं है या नाम से ब्रह्मचारी कहलाता हो, पर ब्रह्मचर्य का पालन न करता हो तो उस नाम से क्या? वह तो कतई व्यर्थ है। इसी प्रकार अध्यात्मवाद से सम्बन्धित कोई साहित्य लिखे व पढे, किन्तु उसे आत्मगामी न बनावे तो केवल स्थापना मात्र से किसी आत्मा का कल्याण नही हो सकता। न द्रव्यरूप से साधुवेश ग्रहण कर लेने का ही कोई मूल्य है, जिसे उस वेश की महत्ता का कोई खयाल नहीं है। अर्थात् अध्यात्मवाद के ये सभी बाह्य रूप हैं अत बाह्य रूप का तवतक कोई उपयोग नहीं हो सकता, जबतक उनके साथ उसका अन्तर रूप विकसित अवस्था में न हो। बाह्य रूप तो अन्तर रूप को प्रकट करने और उसे बनाये रखने में सहायता मात्र करता है। सत्य तो यह है कि भाव अध्यात्मवाद का रहस्य ही आत्मा को सच्चे सौन्दर्य से सुशोभित कर सकता है। एक वाक्य में यों कहा जा सकता है कि आन्तरिकता की नींव पर बनाया हुआ महल बाह्य रूप है। महल दिखाई देता है, नींव छिपी हुई रहती है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि महल ही सब कुछ है, नींव का कोई महत्त्व नहीं। बल्कि यह कहा जा सकता है कि महल का अस्तित्व

नींव पर टिका है। नींव जबतक मजबूत है, महल बना हुआ है और जिस क्षण नींव हिली कि महल गिरा। अत महल का अस्तित्व नींव के अस्तित्व पर टिका है। इसी प्रकार बाह्य रूप आन्तरिकता की वर्तमानता में ही स्थितिशील व उपयोगी होता है। इसके साथ ही यह तथ्य भी हमें समझ लेना चाहिये कि नींव की स्थिति का ज्ञान भी हमको महल से होता है। महल की कैसी मजबूती है, उसीके आधार पर नींव की मजबूती का अनुमान लगाया जाता है, क्योंकि नींव तो दिखाई नहीं देती। अत साधारण रूप से अन्तर की गहराई बाह्य से अनुमानित की जा सकती है।

अन्तर और बाह्य—ये ही जीवन के दो पक्ष हैं। अन्तर और बाह्य का सयुक्त सगठन ही जीवन का सगठन है। सूत्रों की भाषा में इसी अन्तर और बाह्य को "निश्चय और व्यवहार" कहते हैं। निश्चय तो निश्चय 'अन्तर्यामी' ही जान सकते हैं। परन्तु ससार के सामान्य व्यक्तियों के लिये किसीको पहिचानने का मार्ग तो व्यवहार का मार्ग ही है। महल की नींव में सीमेन्ट भरा है या शीशा या केवल गारा ही—यह सामान्य व्यक्ति का महल के देखने से पता नहीं चलता, क्योंकि समय विशेष के लिये विशाल महल भी मामूली नींव पर खडा कर दिया गया हो या छोटे गृह की नींव में वर्षों की मजबूती के लिये सीमेन्ट भरा गया हो। परन्तु एक अनुभवी इंजीनियर इस रहस्य का पता लगा सकता है। साधारण व्यक्ति तो बाहरी ढाचे के

आधार पर ही अपना मत प्रकट करेगा। अत' हमें तो किसीको पहिचानने के लिये उसके व्यवहार को ही तौलना पडता है।

व्यवहार में जो साधु अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा अकिंचन महाव्रतों का पालन करता और सूत्रादिष्ट नियमों की आराधना करता है, भगवद्वचनों में आस्था रखता हुआ जीव रक्षा में धर्म की प्ररूपणा करता है, न कि दया में पाप बता कर मिथ्यात्व का प्रसार, और जो भगवान् को छद्मस्थ अवस्था में 'चूका' (पथभ्रष्ट) नहीं कहता, ऐसा साधु व्यवहार में वन्दनीय है। निश्चय के अनुसार तो जिस किसीका भावना पक्ष साधुत्व के स्तर पर पहुँच चुका है, वह वन्दनीय है और इसीलिये णवकार मत्र में "णमो लोए सव्व साहूण" अर्थात् लोक में सभी साधुओं को नमस्कार किया गया है। इसी निश्चय के प्रकटीकरण के जो बाह्य चिह्न स्थापित कर दिये गये हैं, उन्हें व्यवहार के रूप में देखा जाता है और चूंकि व्यवहार बाहर दिखाई देता है अत निश्चय के अनुमान का वही एकमात्र साधन होता है। ऐसा होता है कि बाहर से जिसका व्यवहार अति उत्तम दिखाई देता है, परन्तु वह केवल बाह्य आडम्बरमात्र होता है और वास्तव है उसका निश्चय—भावना पक्ष पतित व निन्दनीय होता है और कभी इसके विपरीत भी उदाहरण मिलते हैं कि व्यवहार का कतई पालन नहीं, परन्तु निश्चय उच्च श्रेणी में स्थित है। किन्तु निश्चय तो सबके अध्ययन के बाहर की बात होती है, अत व्यवहार का ही अधिक महत्त्व होता है,

क्योंकि अन्ततोगत्वा यही एक साधन है, जिससे कुछ पहिचाना जा सकता है।

यही कारण है कि सासारिक और धार्मिक क्षेत्रों में व्यवहार का अधिक महत्त्व है। कोई काग्रेसी है तो उसे खादी पहननी चाहिये, तो खादी काग्रेसपने (निश्चय) का एक प्रतीक (व्यवहार) हो गई। साधारण रूप से जिसे हम खादी पहने हुए देखें, अनुमान लगाया जा सकता है कि वह काग्रेसी है, फिर अधिक जाच पडताल पर यह भी ज्ञात हो सकता है कि वह काग्रेसी नहीं है किन्तु पहला अनुभव तो यही होगा, जिसकी कि खादी प्रतीक है। इसी तरह यह भी हो कि कोई काग्रेसी विचारधारा रखता हो परन्तु खादी नहीं पहनता हो तो उसे काग्रेसी रूप में कोई नहीं देखेगा। इसी तरह निश्चयसे साधुत्व की व्याख्या और होने पर भी व्यवहार में तो उस साधुत्व की पहिव्यंक्ति के लिये जो नियम और चिह्न निमित किये गये हैं, उन नियमों और चिह्नों की अनुपालना में साधुत्व के आदर्श का अनुमान कर लिया जायगा। यह अवश्य है कि प्रथम अनुभव के पश्चात् हम किसी साधु को सूत्रकथित नियमों व चिह्नों की कसौटी पर उसके निश्चय का गहरा अनुमान लगानेका प्रयास करें और यदि हमें निश्चय के स्पष्ट दोष प्रतीत हो जाय तो हम उन्हें साधु न मानें। हाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह कठिन कार्य है और प्रत्येक के वश की बात नहीं। परन्तु व्यवहार की दृढता व शिथिलता की शका में यह तो नहीं किया जा सकता

कि हम प्रत्येक को साधु मान कर सम्मान देने लग जाय, वह चाहे गृहस्थ हो, या किसी भी विचारधारा को पोषण करने वाला व्यक्ति हो, क्योंकि वह तो निरी मूर्खता होगी और कुछ नहीं। अत यह सत्य है कि व्यवहार को ही हमें गुणधारकता का आधार बनाना पडेगा।

शास्त्रों में भी, इसीलिये, व्यवहार की विशेषता प्रदर्शित की गई है। 'असोच्चा' नामक केवली की चर्चा आती है कि जिन्हें बिना धर्म श्रवण किये ही भावना पक्ष के चरम विकास से कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, उनके लिये भी वन्दन, सम्मान का उल्लेख नहीं आता क्योंकि जहाँ प्रतीक (Symbol) नहीं है, वहाँ कैसे किसीको पहिचाना जा सकता है? इसीलिये व्यवहार का विशिष्ट उपयोग है। जहाँ व्यवहार नष्ट हो जाता है, वहाँ आदर्श के दृश्य धरातल का ही अन्त हो जाता है। सांसारिक कार्यों में भी देखिये, माना आपका कोई अति घनिष्ठ मित्र है, उसका आपसे शुद्ध प्रेम है और उसके घर आप चले जाते हैं। वह न आपका स्वागत करता है न भोजनादि का आग्रह ही करता है अर्थात् व्यवहार का कतई प्रदर्शन नहीं करता तो चाहे कितना ही घनिष्ठ प्रेम हो, आपके हृदय में विचार आये बिना नहीं रह सकता। भावना पक्ष कितना ही दृढ होने पर भी यदि बाह्य साधनों से (व्यवहार से) उसका प्रकटीकरण न किया जाय तो उसका वह मूल्य प्रकाशित नहीं होता। कई सुधारक महोदय केवल निश्चय को मुक्ति का पाथेय मानते

है—यह उनकी धारणा सही नहीं कही जा सकती। आप मुझे वन्दन करते हैं, मेरे व्याख्यान श्रवण करते हैं, क्यों? इसीलिये कि कमसे कम व्यवहार से तो मैं साधु हूँ ही, निश्चय का सर्वज्ञ प्रभु देखते होंगे और एक क्षण के लिये कल्पना कर लीजिये कि मेरा निश्चय शुद्ध नहीं है, फिर आप जो व्यवहार को शुद्ध देख कर वन्दन कर रहे हैं, उसमे आपका तो शुद्ध भाव है अत आपको तो अपने शुद्ध भावों का लाभ मिलेगा ही। इससे विपरीत व्यवहार के अभाव में यदि ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य से पुष्टतया मयुक्त भी कोई हो तो भी व्यवहार में वह वन्दनीय नहीं होता है। अत जनसाधारण मे शुद्ध व्यवहार उपयोगी होता है।

इसके साथ ही मैं यह स्पष्ट कर दू कि कहीं आप यह न समझ बैठे कि व्यवहार ही सब कुछ है और निश्चय का कोई खास मूल्य नहीं। जैसा मैं पहले बता चुका हूँ, विकास रूपी महल की नीव तो निश्चय ही है, जिसपर कि व्यवहार का बाहरी ढाँचा टिका रहता है। हम साधारण व्यक्तियो के लिये, जिनके ज्ञान चक्षु पूर्णतया विकसित नहीं हुए हैं, व्यवहार का ही सहारा रहता है कि अन्य व्यक्तियों के व्यक्तित्व को पहिचान सके। किन्तु जिनके ज्ञान नक्ष पूर्णतया विकसित हो चुके हैं, जो आत्मरामिता से अन्तर्यामिता तक पहुँच चुके हैं, उनके लिये व्यवहार की दीवार निश्चय के दृश्य को रोक नहीं सकती। उनकी अन्तर्दृष्टि तो सीधी निश्चय पर ही पहुँचती है। अत

यह साफ तौर से समझ लेने की आवश्यकता है कि व्यवहार की जड निश्चय है। यदि निश्चय नहीं है तो दिखाया जाने वाला व्यवहार सूखा और नीरस है और इसलिये निरुपयोगी है। निश्चय मुख्य तत्व है, व्यवहार उसका प्रतीक। हमारा राष्ट्र व्यापक है, परन्तु उसका प्रतीक है—झंडा। झंडे की रक्षा देश की रक्षा समझी जाती है क्योंकि जहाँ झंडा झुक गया, राष्ट्र की पराजय मान ली जाती है। साहसी जन जीवन समर्पण करके भी झंडे की रक्षा करते हैं। अत आत्मरमण के लिये तो निश्चय काफी है किन्तु इसका क्षेत्र सीमित होता है, अत अपने आत्मरमण का भाव दूसरों पर भी प्रभाव डाले—दूसरों को भी मार्ग दर्शन दे सके—इसके लिये व्यवहार की नितान्त आवश्यकता है। निश्चय खेत मे उत्पन्न अन्न के पौधे है तो व्यवहार उसकी बाढ है। इसी तरह निश्चय धन सम्पत्ति है और व्यवहार धन सम्पत्ति की रक्षक तिजोरी। निष्कर्ष यह है कि अपने २ स्थान पर निश्चय और व्यवहार दोनों ही जीवन विकास की साथ २ जुडी सरणियाँ है, जिन पर आत्मा को अपने प्रगति के पाव धरने ही पडते है।

अन्त मे मैं यही कहना चाहूगा कि मुक्तिरूपी साध्य को प्राप्त करने के लिये आत्मारूपी साधक को जीवनरूपी साधन के इन दोनों पक्षों—निश्चय (भावना) व व्यवहार को अच्छी तरह समझना ही होगा और साधन के इन दोनों पक्षों के

सवल से पथ निष्कटक होगा और साध्य की जगमग ज्योति अवश्यमेव दृष्टिगोचर होगी।

लाल भवन, जयपुर] [२६ ६ ४६

: ८ :

जीवन-विकास के प्रतीक—दान व त्याग

"गौरव प्राप्यते दानान्तुवित्तस्य सचयात्,
स्थितिरुच्चै पयोदाना पयोधिनामध स्थिति ॥"

जीवन का गौरव प्रदान करने में है, न कि ग्रहण करके एकत्र कर लेने में। वास्तव में इस प्रदान करने को—दान कहिये या त्याग—जीवन के विकास का प्रधान कारण समझना चाहिये। मानव जितना अधिक बाह्य पदार्थों का त्याग करता है, उतना ही उसका अन्तर प्रगति की ओर तेजी से दौड़ने लगता है। यहाँ, जिन लोगो का यह मत है कि अन्तर व बाह्य अथवा आध्यात्मिकता व भौतिकता का समन्वय ही जीवन का चतुर्मुखी विकास कर सकता है, उन्हें यह बता दूं कि किन्हीं अशों में यह समन्वय लाभदायक हो सकता हो किन्तु मूलत भौतिकता की मूर्च्छा अन्तर को फुसलाने और भुलाने वाली होती है और ज्योंही बाह्य मूर्छा का आवरण हटता है, जीवन

के मूलभूत गुण प्रकट होते हैं और विकास पाते हैं। अत यह मानना ही पडेगा कि केवल सग्रह करने वाला व्यक्ति कभी भी प्रगति के पथ पर कदम नहीं बढा सकता। प्रकृति के स्वाभाविक वातावरण में ही इस सत्य का स्पष्ट दर्शन किया जा सकता है।

एक पयोधर (बादल) है, जो आकाश के ऊपरी भाग में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करता हुआ भ्रमण करता रहता है। दूसरा है पयोधि (समुद्र), जो क्षितिज की परिमित परिधि से जकडा हुआ एक ही स्थान में पडा सडा करता है। दोनों के पास अपार जलराशि है, पर वातावरण व स्वभाव में इतना अन्तर क्यों? दार्शनिक की गभीरता इसका उत्तर देगी और वह यह होगा कि दोनो की आन्तरिक वृत्ति ही इस महान् अन्तर का कारण है। एक अपना सब कुछ देना चाहता है और दूसरा सभी का सब कुछ अपने पास सचित कर लेने पर भी अतृप्ति की पिपासा का प्रदर्शन करता है। पयोधर को अपनी सग्रहित जल राशि पर किंचित् मात्र भी मोह नहीं। वह तो उस गर्म हवा की प्रतीक्षा करता है, जो उसके धन को असख्य इच्छुकों में बिखेर दे। पूरी गर्म हवा न भी मिले तो वह पहाड से टकरा कर भी अपने बलिदान की नींव पर धरती के हरे महल खडे होते देखना चाहता है। लेकिन पयोधि धरती की अनेकानेक सरिताओं की जलनिधि शोषित करके भी अपनी लिप्सा को कभी शान्त नहीं होने देता। त्याग जैसी क्रिया को

वह समझता ही नहीं। इस रहस्य को देखने वाले नासमझ व्यक्ति यह अनुमान लगा सकते हैं कि सागर त्याग न भी करे तो क्या हुआ? उसका भंडार तो बिना खाली हुए भरता ही चला जाता है। उसका क्या बिगडा? बिगडा तो बादल का, कि वह विनष्ट होता चला जाता है और पाता कुछ नहीं। परन्तु प्रकृति का यह रहस्य यहीं समाप्त नहीं होता बल्कि आज के आर्थिक जगत् में फैले हुए रहस्य का पूरा दिग्दर्शन कराता है। बादल के त्याग का प्रभाव होता है कि उसका जल मीठा और पीने योग्य होता है, क्योंकि वह देता है, त्याग करता है। किन्तु अपने पेट को बढा कर संग्रह करने वाले सागर का जल देखिये कि खारा और काम में लाने तक के लिये अयोग्य तथा इसके ऊपर बाडवाग्नि से उसका अन्तर जलता रहता है। संचय करने वाला ऊपर से सुखी दीखे किन्तु आन्तरिक चिन्ताओं से उसका हृदय जलता रहता है। संचय करने वाले सागर को यह अस्वाभाविकता और कष्ट ही नहीं भुगतना पडता किन्तु सूर्यताप की क्रान्ति में बादल उससे जल हरण करता है, अपने त्याग और तपस्या से उस पानी को मधुर बनाता है और फिर से धरती पर अपने लिये कुछ भी न रखकर उसे बिखेर देता है।

आज के सामाजिक जीवन का भी यही सत्य है। साधारण जनता का शोषण करके चन्द पूंजीपति एकत्रीकरण करते हुए भी अपनी तृष्णा का पेट मोटा करते रहते हैं, जहाँ वह धन राशि सर्वसाधारण के उपयोग से वंचित रहकर कटु निरर्थकता

में परिणित होती जाती है। किन्तु समाज में त्यागियों का उद्भव क्रान्ति को जन्म देता है, जनसाधारण के हितार्थ और उस क्रान्ति में उस सचय की दीवारें तोड़ी जाती हैं ताकि बादल के जल की तरह उसका सब में समान वितरण किया जा सके। ऐसी अवस्था में ही समाज में सच्चा प्रेम, बन्धुत्व, भावना व कुटुम्बवत् वातावरण का प्रसार हो सकता है क्योंकि सचय की स्थिति सदैव पारस्परिक ईर्ष्या, नृशंस भावना व क्रूर हिंसा को जन्म देती है। दान हृदय की उदार विशालता को अधिकतम क्षेत्र में प्रसारित करता है, वहां सचय वृत्ति हृदय को अत्यधिक सकुचित बनाती हुई उसे घृणित रूप दे देती है।

जीवन विकास के क्षेत्र में दान अत्यावश्यक है। किन्तु उसकी सफलता के लिये उसके साथ निष्काम वृत्ति का होना और भी अनिवार्य है। कामना एव स्वार्थलिप्सा के वशीभूत होकर दिया जाने वाला दान कोई महत्त्व नहीं रखता। जो दान देकर उसके बदले की आशा लगाये रहता है, वह एक दृष्टि से वास्तव में दान नहीं करता है, बल्कि एक तरह का सौदा करता है, जो उसकी आत्म प्रवचना मात्र सिद्ध होती है। कामनायुक्त दान तो जीवन विकास में बाधक हो जाता है क्योंकि उस व्यर्थ प्रतिष्ठा के अहभाव में आत्म स्वरूप को पहिचानना दुष्कर हो जाता है। दान विषयक सम्यक् ज्ञान के अभाव में नाम के लोलुपी और 'मुफ्त मगलिये' लोगों की वाहवाही से अधिक

उस दान का कोई मूल्य नहीं होता। यह आश्चर्य का विषय नहीं होगा कि आज समाज में ९९ प्रतिशत दिये जाने वाले दान में प्राय कामना का अस्तित्व होता है। कोई दान मुश्किल से ही इस भावना के साथ दिया जाता होगा कि शत प्रतिशत इसकी उस क्षेत्र में उपयोगिता है बल्कि दान ऐसे स्थानों पर दिया जाता है, जहांसे उनकी कीर्ति कौमुदी जनता के धरातल पर छिटके। परन्तु समुद्र के खारे पानी में तब तक मिठास नहीं आ सकता, जब तक कि दान के लिये बादल को न दे दिया जाय। उसी तरह दान के शुद्ध दृष्टिकोण से अर्पित की जाने वाली धनराशि ही सच्चा जनकल्याण कर सकती है।

महाभारत में इस विषयक एक आख्यान आया है। युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करके ब्राह्मणों को खूब दान दिया, अत ब्राह्मण लोग यज्ञ मडप में एकत्रित होकर उनकी प्रशसा करने लगे। परस्पर यही वार्ता चल रही थी कि ऐसा यज्ञ न भूतकाल मे किसी ने किया, न वर्तमान में कोई करने वाला है और न भविष्य में होगा। इतने में वहा एक न्यौला आ निकला, जिसका आगे का आधा भाग स्वर्णमय था और पीछे का मटमैला। ऐसे अद्भुत पशु को देखकर सब आश्चर्यचकित हो गये। न्यौले ने आश्चर्यान्वित ब्राह्मणों को कहा—जिस यज्ञ की तुम प्रशसा कर रहे हो, वह नितान्त मिथ्या है। मैंने जो यज्ञ देखा है, उसके सामने यह यज्ञ कोई महत्त्व नहीं रखता। यह सुनकर तो ब्राह्मणों को और अधिक कौतूहल हुआ। विस्मित

और इसीलिये उसके अन्तर का द्वार सबके लिये खुला रहता है। ऐसे भावनामय संसार में विचरण का आनन्द यशलोलुपी पूंजीपति को कहां उपलब्ध होता है?

जरा शालिभद्रजी के पूर्व भव को देखिये। गरीब विधवा के पुत्र के नाते उन्होंने अपने जीवन में कभी भी खीर का स्वाद नहीं चखा। अपने अमीर दोस्त को कई बार खीर खाते देखा तो एक बार हठ करके किसी भी तरह खीर बनाने के लिये अपनी माँ को मजबूर किया। इस बच्चे को रुदन करते देख माता के भी आँसू आ गये, आसपास की पडोसिनियां इकट्ठी हो गयीं। उन्होंने सब बात मालूम की और कहा कि हमारे यहां से मांग लेती, एकने कहा कि यह मांगने वाली नहीं है। यह तो अपने पुरुषार्थ पर काम करती है, दूसरी ने कहा कि हम अपनी खुशी से ला देती हैं, हमारी बहिन है। हम इनके यहां से भी कभी कोई चीज ले जायेंगी—आदि कह कर, खीर की सभी सामग्री अति आग्रहपूर्वक उसको दी। गरीब की दुःखभरी हालत सही तौर से गरीबी भुगता हुआ ही पहिचान सकता है। कवि ने भी कहा है—

> दुखिया आगे दुःख कहे तो आधा बटा लेन।
> सुखिया आगे जो कहे सो दी गारि अरु देन॥

इसी विचार से वह विधवा पास पड़ोस की गरीब स्त्रियों ने थोड़ी थोड़ी करके खीर की सामग्री इकट्ठी कर सकी। जब खीर बन गई, माँ ने उसे एक थाली में परोस कर अपने पुत्र के

सामने रख दी। पुत्र भी जल्दी ठंडी होने की इन्तजार में थोड़ी देर बैठा रहा। उसी समय एक मुनि भिक्षार्थ वहां आ पहुँचे। कोई भी सोच सकता है कि जीवन में पहली बार और वह भी बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुई खीर में बालक की कितनी लालसा थी किन्तु उसने सोचा कि आधी खीर मुनि को दे ही दूं। भावनापूर्ण हृदय से उस बालक ने बाल्य सरलता में थाली के बीच अगुलि से एक रेखा खींच दी ताकि विभाग बराबर हो। किन्तु वह तो तरल पदार्थ था और मुनि के पात्र में थाल के छुआते ही सब खीर अन्दर गिर गई। फिर भी बालक को बुरा न लगा। वह मजे से थाली के साथ सलग्न खीर के अंश को चाटने लगा। उसने अपनी मां के सामने भी नहीं कहा कि मैंने दान दिया, इस तरह दान देकर पचा जाना, किसी प्रकार की कामना रखना, यह तलवार की धार पर चलने के समान है। उसी त्यागमय दान का प्रभाव हुआ कि शालिभद्र को महान् ऐश्वर्य व अपार सुख की प्राप्ति हुई।

इन सब का सार यही है कि त्याग के सच्चे व आन्तरिक महत्त्व को समझने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। इसी प्रसग में आज दिये जाने वाले दान के सम्बन्ध में दो शब्द कहना अप्रासगिक नहीं होगा।

आज अधिकतर दानी महाशय दान की सच्ची भावना की अपेक्षा नाम की लालसा के पीछे ही अधिक ध्यान रखते हैं। इसीलिये मकानों पर बड़े २ अक्षरों में नाम खुदवाते हैं कि

सर्वप्रथम कहा गया है। अत यदि आप जीवन में प्रगति चाहते हैं तो अपनी शक्ति गिरे हुए को उठाने में और दु खियों का दर्द दूर करने में लगावें। नि स्वार्थ भाव से निष्काम बन कर प्राणी मात्र की सेवा करें। इस विचारधारा को यदि जीवन में कार्यान्वित किया जाय तो जीवन मे उच्चतम विकास उपलब्ध किया जा सकता है और त्यागमय सर्वा ग सुन्दरता से जीवन को सुसज्जित किया जा सकता है।

एस० एस० जैन सभा भवन,
सब्जीमंडी, दिल्ली] [११ ३ ५१

: ९ :

भगवान् की चरण-सेवा

धार तलवार नी सोहली,
दोहली चवदवा जिनतणी चरण सेवा

ससार रूपी समुद्र में जीवनरूपी जहाज को विकास के मार्ग का भान कराने के लिये महान् विभूतियों के आदर्श दीप स्तभ का काम करते हैं। जिस प्रकार अनन्त विस्तृत पयोधि में दीप स्तभ (Light House) की प्रकाश रेखा के आधार पर जहाज अपने निश्चित मार्ग से विना किसी अवरोध व आपत्ति के आगे बढते जाते हैं, उसी प्रकार महान् आदर्श हमें हमारे जीवन को सुनिश्चित पाथेय पर चला कर विकसित करने में अनुपम सहयोग प्रदान करते है। यही कारण है कि प्रभु भक्ति का अत्यधिक महत्त्व माना जाता है। जिस समय हम भक्ति में तल्लीन होते है, हमारे नेत्रों के समक्ष उनके सारे जीवन विकास का पूरा चित्र सा खिच जाता है। हमें दिखाई देता है कि वे

साधारण व्यक्तित्व से ऊपर उठ कर प्रभुत्व तक कैसे पहुँचे, नर से नारायण बनने में उन्होंने किस पथ का अवलम्बन लिया और तभी हमारे सामने हमारे विकास का भी रास्ता साफ होने लगता है। यही प्रभु भक्ति की प्रमुख विशेषता है। परन्तु कवि विनयचन्द जी कहते हैं कि तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलना सरल है परन्तु भगवान् की चरण सेवा करना अतीव कठिन है। कवि के इस कथन में गूढ अर्थ भरा हुआ है और इस गूढ अर्थ को समझ लेने में ही प्रभु भक्ति की यथार्थ अर्थ में उपयोगिता व जीवन की सफलता है, वरन् प्रभु भक्ति बाह्य डम्बर मात्र रह जाती है तथा इसके नाम पर कई अनर्थ होते हैं।

भारतवर्ष में विशेष रूप से भक्ति मार्ग की बडी महिमा है और यह निर्विवाद सत्य है कि प्रभु भक्ति से मानव हृदय में शुभ भावों का उद्रेक होता है और तदनन्तर उसी दिशा में निज के जीवन विकास की एक गहरी बेचेनी पैदा हो जाती है। किन्तु इसके साथ ही हमारे लिये यह नग्न कटु सत्य भी है कि आज प्रभु भक्ति का भावना पक्ष समाप्त हो गया है और केवल बाह्य पक्ष निष्प्राण रूप में आडम्बर के आभूषण पहने चमचमाता हुआ शव (Mummy) मात्र रह गया है। यही कारण है कि जहा केवल बाह्य रूप ही अवशेष रह जाते हैं वहा नाना प्रकार के विकार आ घुसते हैं और सारा ढाचा खराब कर देते हैं। आन्तरिक तत्त्व एक बार समाप्त होने पर भी यदि किसी का

बाह्य रूप ही शुद्ध अवस्था में रह सके तो फिर कभी भी उसके विशुद्ध पालन से आन्तरिकता का आविर्भाव हो सकता है परन्तु ऐसा होता नहीं है। केवल बाह्य रूप में विकार उत्पन्न हुए विना नहीं रहते तथा इस प्रकार पूरा सिद्धान्त समाज के लिये अनुपयोगी हो उठता है। प्रभु भक्ति का भी कुछ ऐसा ही हाल है। प्रभु भक्ति के आन्तरिक महत्त्व को विस्मृत कर हम केवल उसके बाह्य रूप की ओर झुके। जिसका परिणाम यह हुआ कि सारे भारतवर्ष में सैकड़ों मन्दिरों का निर्माण हुआ और करने लगे पाषाण मूर्तियों को भगवान मान कर उनकी चरण सेवा फूल जल से। मगर मनुष्य ने न भगवान् का आदर्श रखा, न हृदयों में भावना का प्रवाहित होता हुआ जल। फल स्वरूप आज प्रभु भक्ति का सच्चा आदर्श लुप्तप्राय सा होता चला जा रहा है।

मन्दिर-निर्माण और मूर्ति पूजा के प्रारम्भ के पश्चात् भगवान् की चरण सेवा का तात्पर्य बडा ही आसान मान लिया गया। मन्दिर का घंटा बजाया, 'चरणामृत' पीया और चरण सेवा हो गई। धर्म क्या, एक खिलवाड हो गया। वास्तव में मन्दिरों और मूर्तियों ने स्थापत्य कला के क्षेत्र में भले ही प्रमुखता प्राप्त की हो परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में बजाय आत्मिक उत्थान के इन्हें एक दृष्टि से पतन का ही कारण अधिक बनाया गया है। अस्तु हमें यहां समझना यह है कि फिर भगवान् की चरण-सेवा का यथार्थ रूप क्या है?

'चरण' शब्द का अर्थ बड़ा ही गूढ है। इस शब्द से केवल 'पांव' ही अर्थ करके नहीं रह जाना है। 'चरण' शब्द का अर्थ चारित्र्य है। जिन पावों पर खड़े होकर किन्हीं विभूतियों ने नीचे से ऊपर उठ कर आदर्श स्वरूप प्राप्त किया, उनके पांवों की शक्ति को हमें पूजना है। यह पावों की शक्ति उनका चारित्र्य था। यहां पूजने का अर्थ भी उस चारित्र्य की कार्य परिणति में हमारे जुट जाने से है। अब देखिये कि भगवान् की चरण-सेवा कसे हो सकती है—केवल 'चरणामृत' पीकर या चारित्र्य की आशा में अपनी आत्मा को सोने सा तपाकर? इसीलिये तो कवि कहते हैं कि तलवार की धार पर चलना तो सरल है, क्योंकि कलाबाजी में ऐसा किया जा सकता है, किन्तु भगवान् की चरण सेवा अति ही 'दोहिली'—कठिन है।

अब यहां प्रश्न उठता है कि क्या मोक्ष प्राप्ति के लिये 'भगवान् की चरण-सेवा' ही पर्याप्त है? किन्तु विचारणीय तथ्य यह है कि पावों का काम चलना है, किन्तु उन्हें चलाने वाला तो कोई और चाहिये ही। इसलिये भगवान् के चरणों (चारित्र्य) की ओर अनुकरण के लिये जब हम दृष्टिपात करेंगे तो यह अनिवार्य हो जायगा कि इन चरणों को चलाने वाले मस्तिष्क (भगवत् कथित सम्यक् ज्ञान) की ओर पहले देखें। क्योंकि ये पैर कैसे बढ़े हैं, उसका कारणभूत रूप तो मस्तिष्क है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि जो लोग संयम की क्रिया से ही एकान्त मुक्ति मानते हैं, वह समीचीन नहीं है।

सम्यक्ज्ञान व सम्यक् क्रिया के संयुक्त प्रयास ही मुक्ति के स्वर्णिम द्वार तक पहुंचा सकता है।

यह समझने पर कि ज्ञान और क्रिया का परस्पर क्या सम्बन्ध है तथा सिर्फ ज्ञान और क्रिया आत्मोत्थान-हित किन अंशों में उपयोगी रह जाते हैं, ज्ञान और क्रिया का संयुक्त महत्त्व स्पष्ट हो जायगा। यह एक साधारण विवेक की बात है कि हम कोई कार्य निष्प्रयोजन नहीं करते। एक स्थान से उठ कर दो कदम भी कहीं जाना होता है तो पहले हम सोचते हैं कि यह हमें किसलिये करना है। करने के पहिले जो पूर्व विचारणा है वही ज्ञान है और उसके प्रकाश में ही हमारा करना सफल हो सकता है। पागल के इधर उधर चलने का कोई महत्त्व नहीं हो सकता। पहले योजना (Plan) बनाना और फिर उस पर अमल करना ही सफलता की कुंजी है। आत्मोत्थान के लिये या किसी भी कार्य के लिये बिना ज्ञानयुत क्रिया के कोई लाभ नहीं। न अन्धे की तरह इधर उधर भटकने से कोई प्रयोजन हल हो सकता है, न आंखों की रोशनी लेकर एक जगह बैठ जाने से। किसी स्थान पर पहुंचना तो तभी हो सकता है कि आंखें खोल कर ठीक रास्ते पर आगे बढते जावें। इसके लिये पहले ज्ञान का प्रकाश होना चाहिये ताकि उस उजाले में मार्ग ठीक २ दिखाई दे और ठीक उसीके लक्ष्यानुसार आगे बढा जा सके। "जानो और करो" का सिद्धान्त ही 'भगवान् की चरण सेवा' का आनन्द प्रदान करा सकता है।

भगवान् महावीर का सिद्धान्त है—"ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष" अर्थात् ज्ञान और क्रिया दोनों से ही मुक्ति सम्भव है। इस सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करने के लिये एक दृष्टान्त भी प्रचलित है। एक जगल में एक लगडा और एक अन्धा दोनों एक स्थान पर बैठे हुए थे। जगल में चारों ओर आग लगी हुई था और तेज लपटें बढती चली जा रही थीं। दोनों को अपनी जीवन रक्षा करनी थी, पर क्या करें? दोनो भागने से विवश थे। पहले तो दोनों अपनेपन में रहे और दोनों ने सहयोग करने का समझौता नहीं किया। अधे के आगे तो अधेरा था, वह बेफिक्र था। परन्तु लगडा बढती हुई आग से घबरा गया, वह देख जो रहा था। लगडा अधे को चेतावनी देने लगा कि यदि हमारा आपस में सहयोग न हो सका तो दोनों ही जलकर भस्म हो जायेंगे। उन्हें उस दावानल से मुक्त होना था। जान बूझ कर अपने जीवन को खतरे में डालना तो मूर्खता की ही निशानी है। यह मैं नहीं कहता कि लोगों में मूर्खों की संख्या कितनी अधिक है, परन्तु उन दोनों ने ऐसी मूर्खता के शिकार नहीं बनने का फैसला कर लिया। अन्धे के कन्धों पर लगडा चढ गया और वह अन्धे को मार्ग बताने लगा। लगडे के बताये रास्ते पर अन्धा चलता रहा और इस तरह दोनों उस जगल से पार हो गये। इस प्रकार इस ससार के दावानल से बाहर मुक्ति का जो मार्ग जाता है, उसपर आगे बढने के लिये ज्ञान के निर्देशन में क्रिया का अपूर्व सगठन चाहिये।

अपेक्षा से क्रिया जड है और ज्ञान चेतन। चेतन ही जड को चला सकता है और ज्ञान के निर्देशन में की हुई ही कोई क्रिया, फलवती हो सकती है। सम्यक् ज्ञान बिना केवल क्रिया से एकान्त फल नही मिलता। ज्ञानहीन क्रिया से दोनों फल मिल सकते है—शुभ भी और अशुभ भी, क्योंकि उसमें निश्चय का कोई मापदड नहीं होता। पागल अपनी माँ को 'माँ' भी कह सकता है और 'स्त्री' भी, क्योंकि उसकी बेभान अवस्था है। किन्तु उसका न तो 'माँ' कहना कोई माने रखता है, न 'स्त्री' कहना ही। उसी तरह ज्ञानहीन क्रिया निरर्थक है। शुभ क्रिया भी इसीलिये दो तरह के फल दे सकती है। सम्यक् ज्ञान सहित जो शुभ क्रिया की जाती है, वह तो शुभ फल देती ही है परन्तु बिना सम्यक् ज्ञान के प्रकाश के की जाने वाली शुभ क्रिया अशुभ फल भी दे सकती है। नागश्री ब्राह्मणी ने मुनि धर्मरुचि को दान दिया, वह दान देने की क्रिया निस्सन्देह ऊपर की दृष्टि से शुभ थी, परन्तु उसका फल कटुक (नरक) मिला। क्योंकि उसके अन्तर में पाप भावना काम कर रही थी, वह तो उस कड़ुए तूबे को निकालना चाहती थी। इसी तरह उदयन महाराज ने पुत्र की राज्य पर आसक्ति न हो—इस हेतु से भानजे को राज्य देकर स्वय दीक्षा ग्रहण कर ली। परन्तु मति भ्रष्ट पुत्र ने पिता को शत्रु समझ कर मारने का विचार किया। इस प्रयोजन के लिये वह स्वय दीक्षित हुआ और बाहर से दिखाने के लिये सयम की सभी क्रियाए करने लगा। परन्तु

उसके मानस का चित्र कुछ और ही था। एक दिन अवसर पाकर उसने अपने पिता की हत्या कर दी। इससे यह स्पष्ट है कि शुभ फल शुभ भावों (सम्यक् ज्ञान) के साथ मिलता है, केवल शुभ क्रिया से मोक्ष-सम्बन्धी फल कदापि नहीं मिलता। भगवान् की वास्तविक रूप से चरण सेवा भी अपने सफल उपयोग के लिये भगवान् के ज्ञान का सहयोग चाहती है। मिथ्या दृष्टि की कठिनतम क्रिया भी ससार के परिभ्रमण से मुक्त नहीं कर सकती।

कतिपय भाई मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) को देशत आराधक और उसकी दान व्रतादि शुभ क्रिया को भगवान् की आज्ञा में मानते हैं। ऐसा मानने का उद्देश्य यह है कि वे भाई साधु के सिवाय अन्य सबको कुपात्र मानते हैं और उन कुपात्रों को दान देने में और मरते हुए प्राणी की रक्षा करने में एकान्त पाप बताते हैं। शुभ भाव पूर्वक अपने ही साधु से इतर को दिये हुए दान में और प्राणी की रक्षा करने में पुण्य नहीं मानते। वे जहाँ धर्म होता है वहीं पुण्य मानते हैं और चूंकि साधु को देने में धर्म होता है, अत वहीं पुण्य का बध मानते हैं, अन्य को देने में नहीं। इनकी इस मान्यता के आधार पर इनसे पूछा गया कि तुम जहाँ धर्म होता है, वहीं पुण्य मानते हो फिर जब मिथ्या दृष्टि की शुभ क्रिया में धर्म तो होता नहीं, तब पुण्य का बध कैसे होगा? क्योंकि ठाणांग जी सूत्र में धर्म दो प्रकार का बताया है—श्रुत धर्म (ज्ञान व दर्शन) और चारित्र्य धर्म, जो

कि मोक्ष के मार्ग हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टियों में दोनों का अभाव होता है। फिर भी उनके पुण्यबंध दृष्टिगोचर होता है। वे भिन्न २ ऊँच नीच जातियों में जो जन्म लेते हैं, वह पुण्य ही के प्रभाव से तो होता है। फिर शास्त्र की प्ररूपणा को तिरस्कृत करके धर्म की नवीन रचना कर देना कहाँ तक भगवदाज्ञा का पालन करना है। उनके द्वारा श्रुत और चारित्र्य धर्म के स्थान पर सवर और निर्जरा धर्म की नवीन सृष्टि की गई है। उनका कहना है कि मिथ्यादृष्टि में सवर धर्म तो नहीं होता किन्तु निर्जरा धर्म होता है अत उसके निर्जरा धर्म के साथ पुण्य का वध होता है ? किन्तु यह मान्यता स्पष्टतया शास्त्र के विपरीत है। क्योंकि प्रथम तो शास्त्रोक्त धर्म के दो प्रकार—श्रुत और चारित्र्य धर्म हैं, न कि सवर और निर्जरा धर्म, जो कि केवल अपने मिथ्या सिद्धान्तों पर आवरण डालने के लिये रचे गये हैं। दूसरे निर्जरा के भी दो भेद हैं—सकाम निर्जरा और अकाम निर्जरा। ज्ञानपूर्वक क्रिया करने वाले सम्यक् दृष्टि को सकाम निर्जरा होती है और भगवद्वचनों पर श्रद्धा न रखते हुए इह लौकिक सुखों की अभिलाषा से मिथ्यादृष्टि द्वारा की जानेवाली क्रियाए अकाम निर्जरा का कारण बनती है। अत जब मिथ्या दृष्टि ही आज्ञा में नही है तो उसकी करणी भगवान् की आज्ञा में कैसे कही जा सकती है ? उस मिथ्यादृष्टि की करणी को आज्ञा में मानना केवल साम्प्रदायिक व्यामोह तथा मिथ्या हठ है।

मिथ्यादृष्टि का वास्तविक अर्थ यह है कि जो ससार की

विषय वासनाओं में रमण करने वाला है, चाहे अक्षरी ज्ञान उसका कितना ही परिपक्व क्यों न हो, किन्तु वह आत्माभिमुखी नहीं होता। इसके विपरीत अक्षरी ज्ञान जिसका अल्प भी है परन्तु आत्मोत्थान की ओर जिसका लक्ष्य बना हुआ है, वह सम्यक् दृष्टि है। जीवन में सच्चा विकास करने की जो दृष्टि बन गई है, वही सम्यक् है। महात्मा गांधी का उदाहरण हमारे सामने है। उनसे अधिक विद्वान्, अधिक बुद्धिशाली भी अन्य थे, परन्तु आत्माभिमुखी होने के कारण जो विचित्र शक्ति उनमें थी, वही उनके जीवन पथ को कठोर विपदाओं में से निकाल कर शुद्ध लक्ष्य की ओर मोड़ती रहती थी। इसीलिये सम्यक् दृष्टि का विकास ही सच्चा जीवन विकास कहलाता है।

इस सारे स्पष्टीकरण का सार यह है कि 'भगवान् की चरण सेवा" धूप, दीप, नैवेद्य आदि की पूजा से नहीं होती, बल्कि चारित्र्य के जिस त्यागमय पथ पर उन्होंने चलकर जगत् के समक्ष आदर्श उपस्थित किया है, उस चारित्र्य की आराधना करने से ही वास्तविक चरण सेवा हो सकती है। इसके साथ में ही यह भी समझ लेना चाहिये कि केवल चारित्र्य भी, जो सच्चे ज्ञान से रहित हो, हमारे जीवन को वासनाओं और विकारों के भयकर दावानल से मुक्त नहीं बना सकता। इस उद्देश्य के लिये तो चारित्र्याराधन के पूर्व उसके मार्ग दर्शन के लिये सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता है। अज्ञानपूर्वक की जाने वाली द्रव्य क्रिया को भगवदाज्ञा में मानना कतई मिथ्या है।

कतिपय भाई अपने स्वार्थवशात भोली जनता में शास्त्रविरुद्ध भ्रमणा फैलाने के लिये ज्ञान और क्रिया के सयुक्त महत्त्व पर आघात करते है और धर्म एव पुण्य की असम्बद्ध व्याख्याओं का निर्माण करते हैं। इस प्रकार की मिथ्या नवीन रचनाओं से पहले २ भले ही अज्ञान जनता को भ्रमित करने मे सफलता मिल जावे, परन्तु आत्मा का वास्तविक उत्थान चाहने वाले व्यक्ति जब गभीरता से इन सिद्धान्तों के विषय में सोचेंगे तो उन्हें निश्चय ही सत्य के धरातल पर आना पडेगा।

उपसहार रूप में यह कहना चाहता हूँ कि बाह्य सुखों में लिप्त होकर, इन्द्रियों की लालसाओं में मुग्ध बनकर जीवन को समाप्त कर देने में मनुष्यता की विशेषता नही, अपितु महान् विभूतियों के आदर्श अपने समक्ष रखकर उनके बताये हुए सुष्ठु पथ का अनुकरण करने में ही मानव-जीवन की जीत रही हुई है। हम अपनी सारी शक्तियों को भगवान् की सच्ची चरण सेवा में लगा देंगे और दु खी मानव समाज के लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देंगे तभी हम जीवन की सार्थकता के क्षेत्र में यत्किंचित् सम्मानप्रद स्थान प्राप्त कर सकते है। 'भगवान् की चरण सेवा' वस्तुत निजात्मा तथा प्राणी समुदाय की सच्ची सेवा का ही दूसरा नाम है।

लाल भवन, जयपुर] [२-१०-४६

जय जय जिन त्रिभुवन धणी।
श्री दृढ़रथ नृप तो पिता, नन्दा थारी माय।
रोम रोम प्रभु मो भणी, शीतल नाम सुहाय॥ जय०

प्रार्थना वही व्यक्ति करता है, जो किसी भी ताप से तप्त है। ताप तप्त प्राणी शान्ति चाहता है और जब विविध प्रवृत्तियों द्वारा उसे शान्ति नहीं मिलती, शीतलता का अनुभव नहीं होता तो वह ऐसी महान् विभूति से प्रार्थना करना चाहता है, जिन्होंने जगत् को खुद चलकर ताप शान्ति का मार्ग बताया हो। कवि के शब्दों में हम भी प्रार्थना कर रहे हैं, किन्तु क्या यह पहिचान लिया गया है कि हम किस प्रकार के ताप से तप्त हैं और किस प्रकार की शान्ति व शीतलता का रसास्वादन करना चाहते हैं?

अलग २ मस्तिष्कों में कई तरह के ताप का विचार आ रहा होगा। अभी गर्मी की मौसम है, कोई सूर्य तापसे घबराया

हुआ वृक्ष की शीतल छाया में शान्ति अनुभव कर सकता है। ज्वर ताप से कोई तप्त है तो औषधि उसे सन्तुष्ट कर सकती है और इसी तरह किसी के शरीर में ऊष्णता का ताप है तो चन्दनादि के विलेपन से शीतलता का आनन्द उठाया जा सकता है। मानापमान का ताप चढ़ा हुआ है तो मनुष्य वकीलों की सहायता से कचहरियों में उसे उतारने की चेष्टा करता है। किन्तु यह गम्भीरता से सोचने का विषय है कि क्या इनके सिवाय कोई अन्य ताप भी हमको सता रहा है क्योंकि हम भगवान् शीतलनाथ जी से ताप शान्ति की प्रार्थना कर रहे हैं। जब चिकित्सक के सामने जाने पर रोगी फूट २ कर अपने रोग की दुख की गाथा सुनाता है कि उसकी चिकित्सा सम्यक् प्रकारेण की जा सके। उसी तरह हमें भी अपने ताप का पूरा ज्ञान करके सरल हृदय से अपनी सारी वास्तविकता को अपनी प्रार्थना में प्रकट कर देना चाहिये ताकि सत्य वास्तविकता के प्रकट होने की अवस्था में प्रार्थना का पूर्ण प्रभाव हमारे हृदय पर हो सकेगा।

उस गम्भीर ताप के सम्बन्ध में स्वयं कवि विनयचन्द जी ने ही आगे स्पष्टीकरण किया है —

"विषय कषाय नी उपनी मेटो भव दुःख ताप"—

कवि का आशय यह है कि विषय और कषाय से उत्पन्न ताप ही अत्यधिक दग्धकारी होता है और आत्मा को पतित बनाकर उसे दुःख के अनन्त चक्र में भटकने के लिये छोड़ देता

है। विषय और कषाय को आचरित करने में व्यक्ति को सहजता प्रतीत होती है, किन्तु इसका परिणाम अत्यन्त भयकर ताप उत्तन्न करता है और उससे उत्पन्न ताप ही ससार के सर्व दु खों का मूल होता है।

यह सत्य है कि मनुष्य दु ख से छूटना चाहता है किन्तु यह उससे भी अधिक सत्य है कि जब तक दुखोत्पत्ति के कारण स्पष्टत न समझ लिये जाय, तब तक दु ख से मुक्त नही हुआ जा सकता। उन कारणों को न समझने की अवस्था में प्राणी उन्ही कार्यों को पुन २ करता चला जाता है, जिनसे भयकर तापमय दु ख पैदा होते हैं। सच्चे हृदय से दु ख का सही कारण जान लेने पर कोई भी विवेकशील प्राणी दु खोत्पादक कार्य नहीं कर सकता। जब कोई व्यक्ति समझता है कि सर्प को छेडने से वह काट खाता है और उसका जहर चढ जाने से मृत्यु हो जाती है तो कोई भी ऐसा नहीं मिलेगा, जो जहरीले सांप को पकडे और उसकी डाढों के बीच में अपना हाथ डाल दे। इसी तरह अग्नि को भी कोई छूना नहीं चाहता।

किन्तु प्राणी के विषय व कषाय में फसने की स्थिति व समझ कुछ दूसरी ही है। विषय व कषाय के आचरण को सुख का साधन समझा जाता है। विषय का उपभोग करते समय वह स्वय को आनन्दित होते हुए मानता है और उसमें लुब्ध होकर अपने हिताहित के भान को भुला देता है। इन्द्रियों के विभिन्न स्वादों में वह रमण करता है और अपनी इन्द्रियों द्वारा

विषय विकास करने के प्रयत्नों में जुट जाता है। सुमधुर कंठ का वह गीत सुनकर ही प्रसन्न नहीं होता, बल्कि वह भी चाहता है कि उसकी गायन कला भी ऐसी हो कि सर्वत्र उसकी भूरि भूरि प्रशंसा हो।

तो क्या यह मान लिया जाय कि विषय, सुख का कारण है? इससे पहिले हमें सुख की परिभाषा समझ लेनी चाहिये। सच्चा सुख उसे ही कहा जा सकता है, जिसका सुखमय प्रभाव सदैव व सर्वत्र एक सा रहे तथा किसी भी बाहरी बाधा द्वारा जिसे विनष्ट न किया जा सके। इसी कसौटी पर इन्द्रियजन्य सुख अर्थात विषय सुख को भी कसना पडेगा। पहले, इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होने वाला सुख स्थायी नहीं होता और सब जगह भी एक सा अनुभव नहीं दे सकता। इसके सिवाय साधारणरूप से इस सुख का अन्त दुःखपूर्ण ही होता है। सुखोत्पादक कार्यों को तो जितना अधिक करते जायेंगे, सच्चे सुख की स्थिति के अनुसार तो उन कार्यों से अधिकाधिक सुख की ही प्राप्ति होनी चाहिये। किन्तु विषय सुखों में यह होता नहीं। किसी भी इन्द्रिय का भोग्य पदार्थ देख लीजिये, भोग का आधिक्य दुःख को ही पैदा करेगा। स्वादिष्ट और रुचिकर मिष्टान्न जिह्वा को सुख प्रदायक होता है, किन्तु खाते ही जाइये, किस स्थिति तक पहुँच जायेंगे? दूसरे, जो मिष्टान्न खाने में यहां के निवासी को जो सुख मिलता हो, शायद ही उतना सुख खान पान, अलग होनेसे एक अमरिकन को न मिले।

अत विपय जन्य सुख सुख नहीं सुखाभास के रूप हैं। इनमें फसने वाले की वैसी ही नादानी है, जैसे कोई चमकते हुए पीतल को सोना समझ कर खरीद लें।

इस रूप में विपय भी एक ताप है, क्योंकि अनुकूल स्थिति में राग तथा प्रतिकूल वातावरण में द्वेप उत्पन्न होता है। बाह्य पदार्थों के अनुभव में इसलिये साम्य भावना लाये विना इस ताप से शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इस ताप के नष्ट होने पर "पर द्रव्येषु लोष्ठवत तथा आत्मवत् सर्व भूतेषु" हो जाता है। फिर ज्ञानी पुरुषों को जगल और नगर निवास में कोई अन्तर मालूम नहीं होता।

जहाँ न समुचित खान पान, न निवास योग्य झोंपडी तथा विछाने को घास व ओढने को आकाश है, वहाँ भी उन्हें वह सुख प्राप्त होता है, जो ऐश्वर्यमय प्रासादों में भी अनुभव नहीं होता। अत यदि सुख के मुलम्मे से लगा हुआ दु ख का वडल नहीं चाहिये तो बाह्य पदार्थों के अनुभव में सन्तुलन व सयम की भावना का विकास करना चाहिये। विपयों में लगी हुई लोलुपता ही ताप को उत्पन्न करती है। यह नियम है कि धोखे की चीज ज्यादा लुभावनी होती है और इसीलिये प्राणी विपयों के जाल में बडी आसानी से फस जाता है। जो चमकता है, वह सोना नहीं होता, बल्कि अधिक चमकने वाला साधारणत धोखा ही होता है। पूरी गगरी चुपचाप जानेवाली होती है अत। सच्चे सुख में गाभीर्य व अलौकिक आनन्द की आभा वर्तमान

होती है। इस प्रकार विषय आत्म विकासके लिये विष स्वरूप है।

दूसरा ताप कषाय का है। कषाय उन मनोभावों को कहते हैं, जिनसे आत्मा का अधिकाधिक अध पतन ही होता रहता है। जैनागमों में कषाय के चार भेद कहे गये—क्रोध, मान, माया और लोभ। चारों मनोविकारों से प्राणी निजत्व को भूल कर अंधा हो जाता है और इसीलिये इन चारों मनोविकारों का लौकिक व्यवहार में भी बुरा असर होता है तथा आत्म विकास के लिये भी चारों घातक हैं।

क्रोध को ही लीजिये, मनुष्य को अपना भान भुला देता है। इस उत्तेजना के वशीभूत होकर वह न जाने क्या २ बिगाड़ कर बैठता है और अपना व दूसरों का भारी अहित कर डालता है। जैसे लाल अंगारों को उठाकर दूसरों पर फेंकने वाले की स्थिति होती है कि पहले तो उसका ही हाथ जलता है, उसी तरह क्रोधी भी पहले अपना बिगाड़ करता है। दूसरों पर तो वह अंगारा लगे या नहीं, या पानी पर पड़े तो शान्त ही हो जाये—यह दूसरी बात है। इंगलैंड की एक घटना है कि एक साहब घुड़दौड़ में खेल रहा था। उसने दूसरे से १५ हजार पौंड की शर्त की। खेल में एक की हार और एक की जीत होती ही है। दूसरा जीत गया। वह जीता हुआ फिर दूसरे से खेला और उससे भी जीत गया। पहले हारा हुआ व्यक्ति अपनी हार से कुढ़ रहा था। दूसरी बार वह दूसरे से जीत गया तो उसे

उस पर ईर्ष्या होने लगी। तीसरे से वह जीता हुआ और खेला, उसमें भी वह विजयी हुआ और ४५ हजार पौंड जीत गया। इस तीसरे से और जीतने पर पहले हारने वाले व्यक्ति को इस पर द्वेष उत्पन्न हो गया। उसका क्रोध इतना बढा कि उसे उस जीतने वाले को उसी समय मार डालने की इच्छा हुई। किन्तु बलवान के सामने उस समय वह कुछ नहीं कर सका। जब वह घर पहुँचा और उसकी स्त्री चाय व नाश्ता लेकर सामने आई तो अकारण ही झल्ला उठा और कप तस्तरी उसने इधर उधर फेंक दिये। रूई के अन्दर की ज्वाला छिपी नहीं रह सकती और स्त्री ने पहिचान लिया कि आज इनकी आखों में खून उतर रहा है। उसने जल्दी से उन्हें कमरे में बन्द कर दिया ताकि किसीको नुकसान न पहुँचा सके। साहब का गुस्सा इस पर तो और भी भडक उठा। कमरे का सामान इधर उधर फेंकने लगे और जब कोई वश नहीं चला तो उन्होंने अपने ही हाथ को जोरों से काट खाया। खून निकलने से बेहोश हो गये। सुबह जब होश आया तो उनकी स्त्री ने उन्हें समझाया कि इस प्रकार का क्रोध सर्वथा निरर्थक था।

क्रोध में ऐसा ही अन्धापन होता है। वह तो मांसाहारी था, किन्तु आप लोग तो मांसाहारी नहीं है, फिर भी क्या घर में कभी थाली लोटा नहीं फेंकते? बच्चों पर अपना गुस्सा नहीं निकालते? मैं आपसे ही क्या कहूँ, हम साधु लोग भी कुछ अपमान व विपरीत परिस्थिति के आनेपर क्रोध से झल्ला उठते

हैं। किन्तु इन वृत्तियों पर हमारा नियन्त्रण करने का प्रयास न हो तो केवल सिर मुड़ाने से ही साधुत्व नहीं आ जाता। क्रोध का एक वेग जीवन भर की साधना के मूल्य को घटा देता है। क्रोध आ भी जाय तो उसके बाद क्षमा और प्रायश्चित्त से उसका प्रतिशोधन कर लेना चाहिये। उपशमन और निरोध करते हुए क्रोध की वृत्ति को समूल नष्ट करने की ओर ही साधुओं की प्रवृत्ति होनी चाहिये। शास्त्रमें भी कहा गया है --

जो उवसमई तस्स अत्थि आराहणा।
जो न उवसमई, तस्स नत्थि आराहणा॥

एक बार गौतम स्वामी विचरण करते हुए जंगल से गुजर रहे थे। एक खेत पर उन्हें एक कृषक ने भिक्षा दी और उसी समय गौतम स्वामी की शान्त एवं दिव्य मुखाकृति देखकर वह अत्यन्त प्रभावित हुआ और उनके पास दीक्षित हो गया। इस नव कृषक मुनिको साथ लेकर गौतम स्वामी आगे चलने लगे तो उसने पूछा—आगे आप कहाँ पधार रहे हैं ? गौतम स्वामी ने उत्तर दिया कि मैं अपने धर्मगुरु भगवान् महावीर स्वामी के पास जा रहा हूँ। कृषक मुनि आश्चर्य करने लगे कि ऐसे भव्य मुनि के गुरु कितने भव्य होंगे ? किन्तु ज्योंही दोनों समवसरण में पहुँचे और कृषक मुनि की दृष्टि भगवान् पर पड़ी कि वह एकाएक क्रोधित हो उठा और अपने दीक्षा के उपकरण उनके ऊपर फेंकता हुआ शीघ्र ही वहां से चला गया।

परम शान्तमूर्ति भगवान् के सामने उसके इस कृत्य से आश्चर्यान्वित होकर गौतम स्वामी ने नम्रता से प्रश्न किया कि हे भगवन् ! आपके समक्ष तो क्रूर से क्रूर व्यक्ति भी शान्त हो जाता है और यह कृषक मुनि मेरे साथ तो शान्ति से आ रहा था और आपको देखते ही क्रोधित हो उठा— इसका क्या कारण है ?

भगवान् ने सबके सशय को मिटाने के लिये गौतम स्वामी की तरफ देखा और पूर्वभव का जिक्र करते हुए कहा कि एक भव में मैं त्रिपृष्ठ वासुदेव था और तू मेरा सारथी था। एक समय प्रतिवासुदेव की मेरे पिता के पास एक भयकर त्रास देने वाले सिंह को मारने की आज्ञा आई। उस समय मैंने पिताजी से उस छोटे काम को मुझ पर ही डाल देने की अनुनय विनय की और आखिर उसे उन्होंने मान ली। मैं और तुम उस जगल में पहुचे, जहा वह विशाल सिंह रहता था। गुफा के द्वार पर पहुच मैंने उसे ललकारा और उस सिंहके समक्ष एक वीर की तरह लडने के लिये मैंने भी अपना रथ और अपने शस्त्र छोड दिये। जमकर दोनों में लडाई हुई और मैंने उस सिंह को घायल कर दिया। उस समय सिंह मेरे पर अत्यन्त क्रोधित हो रहा था। तुम्हें सिंह की घायल दशा देख कर दया आ गई और तुमने उसे सान्त्वना देते हुए णवकार मत्र सुनाना शुरू किया। फिर भी तुम्हारे पर प्रेम दृष्टि हो जाने के बावजूद भी मरते समय तक मेरे प्रति उसका क्रोध बराबर बना रहा। उसी

का जीव यह रूपक मुनि है अतः उस भव की भावना इसकी अभी तक बनी हुई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रोध का प्रभाव कितना स्थायी बना रहा जब कि वह रूपक मुनि का जीव उस पर उपशम न कर सका। यह क्रोध बहुत बड़ा ताप है और जब तक इसे उपशम करते हुए क्षय नहीं किया जायगा, आत्म विकास की सीढ़ियों पर नहीं चढ़ा जा सकता।

मान का ताप भी क्रोध से कम नहीं है और इसका प्रत्यक्ष भयंकर प्रभाव हम बाहुबलि मुनि के जीवन में देखते हैं। इसी मान के कारण उनका विकास अवरुद्ध हो गया। कठोर तपस्या व तीव्र आत्म साधना और उच्चपद की ओर अग्रसर होने पर भी वे दीक्षा में वृद्ध अपने छोटे भाईयों के पास जाने के मान को न छोड़ सके। इसलिये उनकी साधना इतनी कठोर होते हुए भी कि उनका शरीर चींटियों के बिलों और पक्षियों के घोंसलों से ढक गया, मुक्ति न मिल सकी। आखिरकार भगवान ऋषभदेव ने ब्राह्मी सुन्दरी अपनी दोनों कन्या साध्वियों को उनके पास भेजा। उन्होंने 'मुनि, गज थकी उतरो' के सन्देश से उनके ज्ञान खोले और जिस समय मुनि बाहुबलि का मान समाप्त हुआ, तत्क्षण तभी उन्हें कैवल्य ज्ञान प्राप्त हो गया। अतः मान के वशीभूत होकर मनुष्य अपनी आत्मा को कई स्थान पर गिराते हैं। वास्तव में नम्रता से ही जीवन में सच्ची सुन्दरता आती है किन्तु मानमयी नम्रता की स्थिति वैसे ही होती है जैसा कि

साँप की नरम देह मे जहर की थैली। अत' नम्रता में सरलता का होना अत्यावश्यक है।

माया और लोभ भी कम बडे ताप नहीं है। इन तापों के दारुण प्रभाव का अध्ययन करने के लिये हमको भूतकाल की ओर भी नहीं देखना पडेगा या किसी व्यक्ति विशेष को भी नहीं जानना पडेगा। आज के समाज का दयनीय चित्र इस ताप तप्तता को प्रकट करता है। समाज का पूजीपति वर्ग किस कुटिलता व मुनाफा वृत्ति से समाज के निर्बल अग का क्रूर शोषण कर रहा है? आज के आर्थिक युग में देखा जाता है कि लोभ की पूर्ति अकेली नहीं की जाती क्योंकि बुद्धिमानी इसीमें समझी जाती है कि लोभ की पूर्ति माया के साथ की जाय कि ठगा जाने वाला रो भी नहीं सके। 'किसी भी तरह लाभ ही लाभ प्राप्त करना'—यह सत्य पूजीपति समझते हैं और देश भक्ति, धर्म भक्ति या अन्य किसी भी गुण को ताक में रख कर वे हर तरह से शोषण करना चाहते हैं। यह उन पर माया व लोभ का भयकर ताप छाया हुआ है। जब तक वे इस ताप से तप्त हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं कि बिना कोई चिकित्सा किये ताप बढ कर प्राणान्त तक का कष्ट पहुँचा सकता है।

अत आज हमें विषय कषाय के इस ताप का स्वरूप पहिचानना और यह ठीक तरह से जान लेना है कि ताप से तपने की स्थिति में समुचित चिकित्सा की शीघ्र चिन्ता करनी चाहिये। भगवान् शीतलनाथ की प्रार्थना का यही अभिप्राय है

का जीव यह क्षपक मुनि है अत उस भव की भावना इसकी अभी तक बनी हुई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रोध का प्रभाव कितना स्थायी बना रहा जब कि वह क्षपक मुनि का जीव उस पर उशपम न कर सका। यह क्रोध बहुत बड़ा ताप है और जब तक इसे उपशम करते हुए क्षय नहीं किया जायगा, आत्म विकास की सीढियों पर नहीं चढा जा सकता।

मान का ताप भी क्रोध से कम नहीं है और इसका प्रत्यक्ष भयकर प्रभाव हम बाहुबलि मुनि के जीवन में देखते हैं। इसी मान के कारण उनका विकास अवरुद्ध हो गया। कठोर तपस्या व तीव्र आत्म-साधना और उच्चपद की ओर अग्रसर होने पर भी वे दीक्षा में वृद्ध अपने छोटे भाईयों के पास जाने के मान को न तोड सके। इसलिये उनकी साधना इतनी कठोर होते हुए भी कि उनका शरीर चींटियों के बिलों और पक्षियों के घोंसलों से ढक गया, मुक्ति न मिल सकी। आखिरकार भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी सुन्दरी अपनी दोनों कन्या साध्वियों को उनके पास भेजा। उन्होंने 'मुनि, गज थकी उतरो' के सन्देश से उनके कान खोले और जिस समय मुनि बाहुबलि का मान समाप्त हुआ, तत्क्षण तभी उन्हें कैवल्य ज्ञान प्राप्त हो गया। अत मान के वशीभूत होकर मनुष्य अपनी आत्मा को कई स्थान पर गिराते हैं। वास्तव में नम्रता से ही जीवन में सच्ची सुन्दरता आती है किन्तु मानभरी नम्रता की स्थिति वैसे ही होती है जैसी कि

सांप की नरम देह मे जहर की थैली। अत नम्रता में सरलता का होना अत्यावश्यक है।

माया और लोभ भी कम बडे ताप नहीं है। इन तापों के दारुण प्रभाव का अध्ययन करने के लिये हमको भूतकाल की ओर भी नहीं देखना पडेगा या किसी व्यक्ति विशेष को भी नहीं जानना पडेगा। आज के समाज का दयनीय चित्र इस ताप तप्तता को प्रकट करता है। समाज का पूजीपति वर्ग किस कुटिलता व मुनाफा वृत्ति से समाज के निर्बल अग का क्रूर शोषण कर रहा है? आज के आर्थिक युग में देखा जाता है कि लोभ की पूर्ति अकेली नहीं की जाती क्योंकि बुद्धिमानी इसीमें समझी जाती है कि लोभ की पूर्ति माया के साथ की जाय कि ठगा जाने वाला रो भी नहीं सके। 'किसी भी तरह लाभ ही लाभ प्राप्त करना'—यह सत्य पूजीपति समझते है और देश भक्ति, धर्म भक्ति या अन्य किसी भी गुण को ताक में रख कर वे हर तरह से शोषण करना चाहते हैं। यह उन पर माया व लोभ का भयकर ताप छाया हुआ है। जब तक वे इस ताप से तप्त हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं कि विना कोई चिकित्सा किये ताप बढ कर प्राणान्त तक का कष्ट पहुँचा सकता है।

अत आज हमें विषय कपाय के इस ताप का स्वरूप पहिचानना और यह ठीक तरह से जान लेना है कि ताप से तपने की स्थिति में समुचित चिकित्सा की शीघ्र चिन्ता करनी चाहिये। भगवान् शीतलनाथ की प्रार्थना का यही अभिप्राय

कि उनके शीतल जीवन पर दृष्टिपात कर हम भी उनसे शान्ति व शीतलता ग्रहण करने का प्रयास करें। भगवान् का जीवन बताता है कि विषय के ताप को वैराग्य से, क्रोध के ताप को क्षमा, सहनशीलता तथा विश्वबन्धुत्व की भावना से, मान के ताप को नम्रता व हार्दिक सरलता से, माया के ताप को सचाई व सौजन्य से तथा लोभ के ताप को सन्तोष, निष्काम वृत्ति एव आत्म स्वरूप के ज्ञान से शीतल बनाया जा सकता है। जीवन का प्रधान लक्ष्य परम शान्ति को प्राप्त करना है और उसके लिये ताप से मुक्ति पहली आवश्यकता है।

अग्रवाल जैन मन्दिर
नई दिल्ली]

: ११ :

शान्ति की शोध में

करने में मैं सफलता प्राप्त न कर लू, मैं अन्न जल ग्रहण नही करूगा। यह प्रतिज्ञा दैव के विरुद्ध एक तरह के सत्याग्रह के रूप में थी। तन्मय हो राजा जनशान्ति के लिये प्रार्थना करने लगे।

भोजन का समय हो गया। दासी भोजन लेकर आई तो महाराज चिन्ताग्रस्त और ध्यानमग्न थे। भोजन के लिये उन्होंने इन्कार कर दिया। रानी ने हाल सुना तो उसे अत्यधिक व्यग्रता हुई। वह राजा के निकट आई और चरणस्पर्श करके उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया। रानी ने चिन्ता का कारण पूछा। टालमटोल करते हुए आखिर राजा ने अपनी प्रतिज्ञा की चर्चा कर दी और रानी से आग्रह किया कि गर्भवती होने के कारण वह शीघ्र भोजनादि से निवृत्त हो जाय। रानी पूर्ण पतिव्रता थी। उसने कहा—बिना पतिदेव के भोजन किये मैंने आज तक भोजन नहीं किया है, फिर अब कैसे कर लू? मैं भी आपके शान्ति प्रयासों में आपकी सहभागिनी बनूगी। वहा से रानी एक एकान्त कक्ष में चली गई और सत्य शील सम्पन्न आत्मीय गर्भ को स्मरण करके प्रार्थना करने लगी—हे महा पुरुष! तुम सत्य शील के प्रभाव से मेरे गर्भमे आये हो। तुम्हारे प्रभाव से यह महामारी सर्वथा शान्त होकर जनता में फिर से नया जीवन आ जावे।

गर्भस्थ बालक और कोई नहीं, स्वय सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ भगवान् थे, जिनकी हमने अभी ही प्रार्थना की है।

चे शान्ति के अवतार थे। शान्ति स्रोत से शान्ति का ही प्रवाह निकलेगा और इस तरह प्रजा में महामारी के कारण जो अशान्ति मची हुई थी, वह तदनन्तर शान्त हो गई। गर्भस्थ बालक की ऐसी अद्भुत प्रतिभा देखकर राजा रानी ने उनका नाम शान्तिनाथ रखना—ऐसा तभी निश्चय कर लिया।

हम भी उनसे प्रार्थना कर रहे है, क्योंकि वे शान्ति के दातार है। जो जिस रास्ते पर चलकर उसे अच्छी तरह देख लेता है, फिर वह उस रास्ते को दूसरों को भी उसी तरह बता सकता है और जो इस तरह रास्ता जानता है, उसी से रास्ते का पता भी पूछा जाता है। भगवान् शान्तिनाथ, जिनका प्रभाव प्रारम्भ से ही शान्तिमय रहा, शान्ति के अलौकिक पथ पर चल कर उन्होंने आत्मिक—परम शान्ति को प्राप्त की और आज उनका जीवन हमारे लिये शान्ति शिक्षक हो सकता है। यही कारण है कि शान्ति की उस तस्वीर को समझ सकें, हमने उनसे शान्ति लाभ की प्रार्थना की है।

किन्तु इसके साथ ही यह भी हमे समझना है कि केवल प्रार्थना करने से ही हमें पूर्ण शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। प्रार्थना की तन्मयता हमारे सामने उनके शान्तिमय जीवन का चित्र स्पष्ट कर देगी और हम भलीभांति जान जायेंगे कि शान्ति का स्वरूप कैसा है और उसे प्राप्त करने का रास्ता कौनसा है? फिर शान्ति के प्रयासों के लिये तो हमें ही जूझना पड़ेगा और हर तरह से शान्ति के लिये बलिदान करने के लिये

हमें दृढ प्रतिज्ञ होना पडेगा। प्रार्थना कर्म के पहिले आवश्यक पूर्व ज्ञान से हमें भिन्न करके उसकी पृष्ठभूमिका का निर्माण करती है।

तो सर्वप्रथम हमें देखना है कि हम पहिले शान्ति के शोधक बनें। हम शान्ति साम्राज्य के दृश्य को अपने नेत्रों के समक्ष पूर्णरूपेण स्पष्ट कर दें। भगवान् शान्तिनाथ ने शान्ति की शोध कहाँ की और उन्होंने शान्ति का स्वामित्व कैसे प्राप्त कर लिया?

> चईत्ता भारहं वास, चक्कवट्टी महड्ढियो।
> शान्ति शान्ति करे लोए पत्तो गई मणुत्तर॥

भगवान शान्तिनाथ ने अशान्त विश्व को शान्तिमय बनाने के लिये अपने अतुलित वैभव व चक्रवर्ती के शक्तिशाली पद का परित्याग कर दिया एवं निज के बलिदान से दूसरों को शान्ति देने का प्रयास किया और आखिरकार वे ससार को एक शान्तिप्रद नया मार्ग दिखलाने में सफल हुए। यह विचारणीय विषय है इस दुनिया के लिये, जो भौतिकवाद के पीछे पागल हो रही है कि जब उन्होंने सुख देने वाले महान् ऐश्वर्य को तो त्याग दिया, फिर उन्हें शान्ति का रसास्वादन कहा हुआ? आपको तो इच्छा होती है कि यदि हजार रुपैये हों तो लाख रुपये हो जाय किसी भी तरह से जल्दी से जल्दी बगला बनवा लू, कार ले आऊँ और फिर सुखी जीवन में शान्ति आ जायगी।

आज ऐसी ही शान्ति को शान्ति समझ कर सब जगह समाज व विश्व में अन्याय तथा अत्याचार का लज्जाजनक वातावरण छाया हुआ है। चेतन समाज में जड अर्थ को प्रमुखता देकर निश्चय ही वास्तविकता को भुला दिया गया है। समाज मे पूजी की भूख भेडिये की भूख की तरह हो रही है। आज के पूंजी हस्तगत करने के साधनों में निर्ममता हे, क्रूरता है और स्पष्ट शब्दों में कहा जाय कि मानवता का विनाश और दानवता का रूप ग्रहण है। अर्थ की शक्ति को ही प्रधान शक्ति मान कर अर्थ सम्पन्न वर्ग बहुसख्यक अर्थहीन वर्ग को लूटता-खसोटता हे और उन्हें अपने अधिकारों से वचित कर समाज मे जानवरों से भी बदतर जिन्दगी बसर करने के लिये छोड देता है। उसकी तडप पर अट्टहास करता है, फिर दानवता ही तो बढ सकती है।

विश्व के वर्तमान प्रागण में भी इसी अर्थ लिप्सा,—साम्राज्यवादी लालसा, का प्राधान्य छाया हुआ है। शक्ति गुटों में बट कर दुनिया पिछडे हुए राष्ट्रों की दासता की कठोर कडियां तैयार कर रही है। शक्तिशाली राष्ट्र अपना कर्त्तव्य समझने लगा है कि वह अपनी शक्ति का उपयोग अपनी सीमाएँ, अपनी पूजी और अपना प्रभाव बढाने में करे और पिछडे हुए देशों के पिछडेपन से तथा सकट मे पडे हुए देश के सकट से फायदा उठाकर उसपर आर्थिक गुलामी का जुआ डाला जाय ताकि वे राष्ट्र सदियों के लिये दबे रहें और वहाके

निवासी स्वतन्त्रता के लिये आवाज न उठा सकें। यह सब जो होता है, मानवता की स्पष्ट हत्या ही तो है।

समाज और विश्व की यह भौतिकवादी दौड़, हम अपने वर्तमान से ही देखें कि कैसी अशान्ति पैदा कर रही है? आज समाज और विश्व में अशान्ति की जो भीषण ज्वालाएं जल रही हैं, उनसे कोई भी अपरिचित नहीं। समाज वर्ग विभेद से जल रहा है तो विश्व में साम्राज्यवादी राष्ट्रों द्वारा लगाई गई युद्धाग्नि प्रज्वलित हो रही है। कहीं भी शान्ति का सुखमय वातावरण नहीं दिखाई देता। फिर समझ में नहीं आता, आप लोग अर्थ के पीछे अपने निजत्व को कैसे विस्मृत कर जाते हैं? पैसे का पागलपन अपने दिल में समाकर कैसे उन आदर्शों से परे हो जाते हैं, जिनमें ही सुखमय मानवता और सच्ची शान्ति का निवास है? भगवान् शान्तिनाथ को सच्ची शान्ति का पथ प्रकाशमान करना था, इसलिये ही उन्होंने सबसे पहिले अपने छ खंड के साम्राज्य और अपनी वैभवपूर्ण ऋद्धि सिद्धि को ठोकर लगाई। आध्यात्मिक मार्ग पर अपने कदम बढ़ाते हुए उन्होंने राग द्वेष, मोह माया, तृष्णा आदि मनोविकारों से उत्पन्न अशान्ति को भी समाप्त कर डाला। पूर्ण शान्ति के वे प्रकाशमान स्तंभ आज भी हमको शान्ति का अमर सन्देश दे रहे हैं।

पर शान्ति की ओर हमारा लक्ष्य कहाँ है? जैसा कि मैं ऊपर ही कह चुका हूँ कि सब समाज और विश्व में अशान्ति

की भीषण आग जल रही है तो व्यक्ति तो उस अशान्ति की जड है। चूकि व्यक्तियों का समूहगत नाम ही समाज है, इस अशान्ति का उत्तरदायित्व प्रत्येक व्यक्ति पर है और यह उत्तरदायित्व हमे स्पष्ट दिखाई देगा कि जो शोषित हैं, पीडित हैं, किसी भी तरह से दु खी हैवह भी अशान्त है, किन्तु जो शक्तिशाली है, सम्पन्न है व अधिकार एव सत्ता से अभिभूषित हैं, वह भी अपने को अशान्त मानता है। इतना ही नहीं, जो साधु सांसारिक कामनाओं के प्रपच से उन्मुक्त होकर दीक्षित हो जाता है, वह भी समय २ पर छोटी २ वातों से अपने आपको अशान्त वना लेता है। इस तरह आज हमारे लिये शान्ति एक इतने दूर की मजिल हो गई है कि कठोर साधना व सयुक्त कर्मशीलता के वल पर ही उस मजिल तक पहुँचा जा सकता है। शान्तिपथ की साधना की जिम्मेदारी हम साधुओं पर अधिक है। ससार चक्र में फसा हुआ गृहस्थ पग २ पर अपनी शान्ति को खो वैठता है तो वह किन्हीं अवस्थाओं में क्षम्य कहा जा सकता है किन्तु हम साधु, जिन्हें अशान्ति का कोई कारण नहीं, यदि अशान्ति के दलदल में फसते है तो निश्चय ही हम क्षम्य नहीं है और उस उत्तरदायित्व को हमें गभीरता से महसूस करना चाहिये। हम अशान्त जनता को शान्ति का सन्देश सुनाने वाले स्वय शान्ति से कोसों दूर रहें तो क्या यह स्थिति हमारे लिये किसी भी रूप में शोभनीय कही जा सकती है?

इस प्रकार शान्ति की आवश्यकता को महसूस कर
हर तरह की अशान्ति का हमें मुकाबिला करना है। एक
के लिये कई तरह की अशान्ति हो सकती है, किन्तु व्या
अशान्ति को तीन मुख्य शीर्षकों के नीचे लिया जा सकता
(१) आधिभौतिक, (२) आधिदैविक तथा (३) आध्या
अशान्ति।

पृथ्वी, जल, तेज आदि पञ्च तत्वों से बने हुए शरी
भौतिक शरीर कहते हैं। इन्हीं पञ्च तत्वों को जैन दर्
पुद्गलास्तिकाय कहा गया है। ऐसे भौतिक शरीर में स्व
वशात् या अकस्मात् किसी भी प्रकार की आधिव्याधि उ
हो जावे, उसे आधिभौतिक अशान्ति कहते हैं। शरीर
समय पूर्ण स्वस्थ है, परन्तु दूसरे ही क्षण अकस्मात्
आपत्ति से जो अशान्ति उत्पन्न हो सकती है, उसे आधिदै
अशान्ति कहते हैं। इसी प्रकार प्रिय वस्तु का वियोग
अप्रिय वस्तु का सयोग होने पर जो चिन्ता व आन्तरिक वे
होती है, उसे आध्यात्मिक अशान्ति कहते हैं। मानसिक
ही आध्यात्मिक अशान्ति का मूल कारण होता है। इसके
ही जिसका मन बली होता है, वह आधिभौतिक या आ
दैविक अशान्ति से भी विचलित नहीं हो सकता। महा
स्वामी ने १२॥ वर्ष तक तप किया, मुनि गजसुखमाल के
पर दहदहाते अगारे रख दिये गये, किन्तु बलवान मनोबल
कारण उन्होंने कोई कष्ट अनुभव तक नहीं किया। आज

गृहस्थों की तो बात छोडिये, साधु भी मामूली सा सिरदर्द हुआ कि हाय हाय करने लग जाते हैं। मानसिक शिक्षण का महत्त्व जैसे वे जानते ही नहीं। हमारे पूज्य गुरुदेव जवाहिराचार्य को अन्तिमावस्था मे जब जहरीले फोडे में छिद्र छिद्र हो जाने के कारण असाध्य एव असह्य पीडा होने लगी कि देखने वाले को भी एक बार रोमांच हो उठता था, तब भी गुरुदेव के मुख से उफ् तक नहीं निकला। अन्त तक वे सफल खिलाडी की तरह वेदना व दुखाभास को पीछे धकेलते थे। वे ज्ञानी थे और हसते २ शरीर के खेल को देखते रहे। उनकी मुखाकृति किसी भी तरह मलिन नही हुई, अपितु शान्ति की एक विचित्र आभा से अन्त तक देदीप्यमान रही।

व्यक्ति के लिये निजी शान्ति को बनाये रखना बहुत कुछ मस्तिष्क के निर्माण पर निर्भर रहता है। मानसिक सतुलन को बनाये रखने का जो अभ्यास कर ले तो उसे कभी किसी तरह की अशान्ति सता ही नहीं सकती। मस्तिष्क की कमजोरी से चिन्ता व उदासी का वातावरण बनता है। मस्तिष्क अगर मजबूत है तो आपत्तियों की घबडाहट के बीच रहते हुए भी उनके प्रति किसी भी दु ख का अनुभव नहीं किया जा सकता और विपरीत स्थिति मे कमजोर मस्तिष्क आपत्तियों के अभाव में भी केवल शका कर २ के अपने लिये दु खों का पहाड खडा कर देता है। जीवन मे उतार चढाव आते ही रहते हैं और उनमें समान अवस्था का अनुभव करने से मानसिक सन्तुलन

का निर्माण किया जा सकता है। दुनिया के सब कामकाज करते हुए भी निजी शान्ति को बनाये रखा जा सकता है। कहते हैं, इंगलैंड का प्रधान मंत्री ग्लेड्स्टन जब अपने कार्यालय से निकलता तो प्रधानमंत्रित्व की समस्त चिन्ताओं को वहीं छोड़ देता और अपने शान्ति मन्दिर (Temple of Peace) में शान्ति की आराधना करता। यह तभी हो सकता है जब कि तेल के कटोरे की ओर ध्यान रखते हुए ऋषभदेव भगवान की निन्दा करने वाले व्यक्ति ने नाटक तमाशे भी देखे होंगे, फिर भी उसका ध्यान तेल के कटोरे से नहीं हटा। वैसे ही शान्ति का एक लक्ष्य रखते हुए कर्त्तव्य भावना से न कि लुब्ध वृत्ति से सांसारिक क्रियाएं की जाय।

"अन्तरगत न्यारो रहै, ज्यूं धाय खिलावे बाल॥"

ऐसी मानसिक वृत्ति के आधार पर ही मनुष्य अशान्ति से चलायमान नहीं हो सकता। आजकल बहुत सी बहिनें आध्यात्मिक अशान्ति स्वयं पैदा करती हैं। एक समय किसी बहिन के पति रुग्ण थे। काफी उपचार कराने पर भी वे स्वस्थ नहीं हो सके। यहांतक कि एक दिन उनकी मरणासन्न अवस्था हो गई। बोली बन्द हो गई और केवल श्वास चल रहा था। मैं उन्हें मंगलिक सुनाने गया तो देखता हूँ कि घर में औरतें रो रही हैं, जब कि उनका श्वास चल रहा था। रोनेवाले यह ध्यान नहीं रखते कि रोने से बीमार की गति बिगड़ती ही है। मरने के बाद कई दिनों तक जोर २ से रोने का जो रिवाज है, वह

बुरी रीति है और अधिकाधिक आध्यात्मिक अशान्ति को पैदा करती है। आप लोगों को निश्चय करना चाहिये कि इस प्रथा को शीघ्र खतम कर दें। इस प्रकार यह अस्थिर चित्तता बहिनों में ही नहीं, भाइयों और कई साधुओं में भी पाई जाती है। कई साधु अपने गुरु, चेले या साथी साधु के देहावसान पर विलाप करते हैं, चिन्तित होते है। यही अवस्था सतियों की भी है। किन्तु अशान्ति का स्वरूप समझ कर इस वृत्ति को खतम करने की ओर आगे बढना चाहिये।

शान्ति जीवन-विकास के लिये एक प्रमुख आवश्यकता है और जब तक किसी भी प्रकार से हम हमारे हृदय व मस्तिष्क में शान्ति के सचार का प्रयास नही करेंगे, आपत्तियों के तूफान में पड कर कभी हम आत्मोन्नति की ओर ध्यान दे ही नहीं सकेंगे। सच्ची शान्ति के लिये विकृत मनोविकारों का आवरण हटाना होगा, राग द्वेप, मोह माया, तृष्णा स्वार्थ आदि रागात्मक वृत्तियों का त्याग करके हृदय को अधिकाधिक उदार व विशाल बनाना होगा। जो भी महापुरुष शान्ति की परम स्थिति को पहुँचे है, उनके स्पष्ट अनुभव है कि ज्यों २ मनुष्य निजी स्वार्थों को भूल कर परहित मे अपने स्वार्थों को विसर्जित करता चला जाता है, त्यों २ वह शान्ति की मजिल के समीप पहुचता है। इसके साथ ही अपने ही स्वार्थ में निरत रहने पर जीवनाकाश को अशान्ति के बादल ही घेरे रहते हैं। इस रहस्य में आत्म की मूल प्रवृत्ति का प्रदर्शन हमें मिलता है।

आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है और इसलिये ऐसे कार्य सम्पादित करने में उसे आनन्द व शान्ति की प्राप्ति होती है, जो उसके नीचे गिराये रहने वाले भार को हल्का करते हैं। अपने ही दृष्टिकोण से दूसरों के लिये सोचना—यह सकुचित मनोवृत्ति आत्मा को पतन की राह पर नीचे ढकेलने वाली होती है। चाहे इस दृष्टिकोण में प्रत्यक्ष सुख दिखाई दे सकता है, किन्तु वह केवल सुखाभास होगा और क्षणिक होगा। दूसरों के ही दृष्टिकोण से अपने को भी सोचना—यह हृदय की विशालता का लक्षण है और चूकि इसमें किसी भी प्रकार की विकृति की छाप नहीं होती, आत्मा को आन्तरिक सुख व स्थायी शान्ति प्रदान करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आन्तरिक स्थायी शान्ति का निवास स्वार्थ त्याग तथा आत्म वलिदान में ही रहा हुआ है। पहली श्रेणी है कि अपने निजी स्वार्थों की भावना को खत्म कर दिया जाय और तदनन्तर दूसरों के व्यापक हित के लिये अपना हर तरह का वलिदान प्रस्तुत किया जाय। यह वलिदान पथ कठोर अवश्य है, किन्तु बाहरी सुख और आन्तरिक शान्ति का कोई सम्बन्ध नहीं है। आन्तरिक शान्ति की साधना तो आत्मविसर्जन की भावना के साथ ही सफलतापूर्वक की जा सकती है। आत्मविसर्जन की चरम सीमा पर पहुँच के साथ ही कैवल्य ज्ञान प्राप्त होता है, और यही केवलल्य ज्ञान परम

शान्ति का मुख्यद्वार है। भगवान् शान्तिनाथ ने स्वय आत्म-बलिदान का सुनहला आदर्श हमारे सामने रखा है।

शान्तिनाथ पूर्वभव में मेघरथ नाम के राजा थे। वे बडे ही शान्त, सहृदयी तथा परोपकारी थे। उनके परहितकारी स्वभाव की कीर्ति इन्द्रलोक तक पहुँच गई। एक बार इन्द्र ने अपने दरबार में मेघरथ राजा की इस उत्तम वृत्ति की भूरि २ सराहना की। उस प्रशसा को सुनकर एक देवता को बडा ही बुरा लगा। उसने सोचा—यह इन्द्र के द्वारा देवताओं का अपमान है। देवलोक मे निर्बल मनुष्य का गुणगान किया जा रहा है। उसने राजा मेघरथ को नीचा दिखा कर इन्द्र को लज्जित करने का निश्चय कर लिया।

देवमाया से उसने एक कबूतर का रूप धारण कर राजा मेघरथ के दरबार की ओर उडा। अपने पीछे २ ही एक को बाज बनाकर पीछे उडाया। जहा राजा बैठे हुए थे, कबूतर थर थर कांपता हुआ उनकी गोद में आ गिरा। राजा ने उसे भयभीत जानकर अपनी शरण मे ले लिया। पीछे से बाज आ ही पहुँचा। राजा से उसने अपना भक्ष्य मांगा। राजा ने शरणागत की हर तरह रक्षा करने का अपना धर्म बताया और बाज से कहा कि इसके बदले में वह और कुछ मांग ले। बाज के मांगने पर राजा ने अपने ही शरीर का मास कबूतर के बराबर देना शुरू किया। वह तो परीक्षा थी और राजा उसमें सोने की तरह निखर उठे। आज मैं पूछू कि हमारे देश में भी

कितने शरणागत (शरणार्थी) आये हुए हैं ? क्या उनके लिये आप उचित बलिदान कर रहे हैं ? शरणागत के लिये अपना सब कुछ निछावर कर देना भारत की आदर्श परम्परा है।

किन्तु आज आप लोगों को अपने राष्ट्र का भी गौरव कहाँ है। राष्ट्र के गौरव का तनिक भी खयाल नहीं है, इसलिये तो प्राचीन आदर्श राष्ट्र के बीच से उठते जा रहे हैं। आप दूसरे देशों में देखेंगे कि हर बच्चे २ को अपने देश का स्वाभिमान होता है और वह अपने देश की निन्दा अपने कानों से सुनना नहीं चाहता। यह राष्ट्र प्रेम स्वातन्त्र्य आन्दोलनों में भारत में जगा, किन्तु आजादी मिलने से फिर ऐसा शिथिल वातावरण आ गया, जैसे सब कुछ पा लिया हो। चोर बाजारी और भ्रष्टाचारी क्यों पनपते हैं ? इसीलिये तो इन्हें राष्ट्र से भी ऊपर केवल अपने मुनाफे का ही खयाल होता है।

अतः मेरा यही कहना है कि ऊँचे आदर्शों के लिये स्वार्थ जय व त्याग अनिवार्य है और ऊँचे आदर्शों के फलस्वरूप ही परम शान्ति की प्राप्ति हो सकती है। शान्ति ही जीवन का वास्तविक ध्येय है और यही ध्येय जीवन को उन्नति के पथ पर आगे बढ़ा सकता है।, भगवान् शान्तिनाथजी की प्रार्थना का यही रहस्य है कि उनके शान्तिमय जीवन से शान्ति की प्रेरणा लें और अपने जीवन में आन्तरिक सुख का संचार करें।

पोरवालों की धर्मशाला, (दादर)] [ता० ६ ६-४८

: १२ :

संसार की आधारगत समस्या

"प्रणमू चार हजार, प्रभु त्रिभुवन तिलोजी।
सुमति सुमति दातार, महा महिमा निलोजी॥"

विश्व की समस्त समस्याओं का, चाहे वे किसी भी क्षेत्र की हों, मूलत एक ही हल है और वह है बौद्धिक तथा नैतिक। राजनीतिक व आर्थिक समस्याएँ समाज विकास मे बाधक अवश्य बन सकती है, किन्तु बौद्धिक परिपक्वता व नैतिक सहृदयता के अभाव में उक्त समस्याओं का हल भी समाज में सच्चे सुख व स्थायी शान्ति की सृष्टि नहीं कर सकता। पूर्ण स्वतत्रता एक २ व्यक्ति के अपने कर्त्तव्य व अधिकारों के प्रति विवेकपूर्ण ढग से सजग होने में ही उपलब्ध हो सकती है। जब तक बुद्धि का अभाव व उसकी विकृति का अस्तित्व रहेगा, समाज में शोषण, उत्पीडन तथा अन्याय की समाप्ति असभव है। इसीलिये कवि सुमति प्रभु से प्रार्थना करता है कि उनके

आदर्श जीवन से विवेक व सुबुद्धि प्राप्त हो। श्रेष्ठ ज्ञान तथा सच्चा विवेक ही व्यक्तिगत व समाजगत दुःख से विमुक्ति दिला कर विकास की दिशा में प्रगमनशील बना सकता है। यह कितनी सुन्दर प्रार्थना है कि सभी पदार्थों की चाह से ऊपर हमें विवेक व सुबुद्धि प्राप्त करने की चाह है, ताकि सुबुद्धि के उस प्रकाश में हम दैनिक जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति का सूक्ष्मावलोकन कर सकें और उससे अपने अन्तर की कालिमा को पहिचानते हुए आदर्श पथ की ओर अपने कदम मोड़ सकें।

इस समय मैं आप से एक प्रश्न करूँ कि आप सुमति चाहते हैं या सम्पत्ति ? आप दोनों चाहते हैं, किन्तु तुलसीदास जी कह चुके हैं कि—

जहं सुमति तहं सम्पत्ति नाना।
जहं कुमति तहं विपत्ति निदाना॥

सम्पत्ति की प्राप्ति भी सुमति पर निर्भर है। यह सम्पत्ति चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, लेकिन दोनों की प्राप्ति का उद्देश्य बनाने के पहिले यह सोच लेना चाहिये कि अगर सुबुद्धि से—विवेक से काम नहीं लिया गया तो आध्यात्मिक सम्पत्ति तो मिल ही नहीं सकती और एक बार भौतिक सम्पत्ति घातक तरीकों से मिल भी गई तो वह टिक नहीं सकती तब बड़े बुरे परिणाम दिखाकर खतम हो जायगी।

आज चारों ओर दिखाई देता है कि अधिकतर सम्पत्ति प्राप्ति (भौतिक) की दौड़ लगी हुई है किन्तु पहले सुमति

प्राप्ति हो—इसकी ओर बहुसख्यक जनो का लक्ष्य नही है। बल्कि सम्पत्ति प्राप्ति में कुमति से ही अधिक काम लिया जाता है और उसका परिणाम आज समाज में फैली अनैतिकता, असमानता व अव्यवस्था में देखा जा सकता है। मैं आपसे प्रश्न करूँ कि क्या आप केवल सम्पत्ति प्राप्ति के लिये ब्लेक मार्केट नही करते, भ्रष्टाचार नही बढाते, उन गरीबों के प्रति शोषण का खूनी चक्र नही चलाते, जो दरअसल सम्पत्ति को अपनी मिहनत से पैदा करते है और उपकार करने वालों के प्रति भी अपकार तो नहीं करते ? यह हृदय में गहराई से सोचने की वस्तुस्थिति है। आप महसूस करते होंगे कि जैसा मैं कह रहा हूँ, किन्हीं अशोंमें होता अवश्य है। किन्तु आज यह सोचना है कि यह सब क्यों किया जाता है ? क्या सच्चे हृदय और सद्विवेक से पहले सोच लिया जाय उन कार्यों के परिणाम के विषय मे, तो क्या सभव है कि चोरबाजारी जैसी राष्ट्र व धर्म विरोधी प्रवृत्तियाँ पनपती ही जाय ? जो सम्पत्ति कुमति से प्राप्त की जाती है, वह कभी भी प्राय शान्तिप्रदायक नही हो सकती वरन् वह तो अन्त में कभी कभी जीवन विनाश का कारण हो जाती है।

रावण की यही प्रकृति थी। उसने सम्पत्ति रूपी सीता की इच्छा की किन्तु सद्विवेक रूपी राम को वह अपने पास नहीं फटकने देना चाहता था उसका फल आपसे अपरिचित नहीं।

सीता को तो प्राप्त कर ही नहीं सका, किन्तु अपने आपको उसने विनाश के गर्त में नीचे गिरा दिया।

भँवरे और मक्खी के सरल उदाहरण से हम सुमति और कुमति के स्वरूप को आसानी से समझ सकते हैं।

भँवरे की यह प्रकृति है कि जहां भी पुष्प विकसित हों, उसका सुगन्धमय पराग चारों ओर उड़ रहा हो, वह वहां बिना किसी निमन्त्रण के स्वयमेव चला जाता है। वह गुनगुन की गुंजार करता हुआ अपने आपको तन्मय कर देता है। वह किसी भी हालत में सुगन्ध को छोड़कर दुर्गन्ध पर नहीं बैठना चाहता। वहां मक्खी भी है, जो मिश्री पर बैठी है, तुरन्त उसे छोड़कर अशुची पर बैठ जाती है। उस अशुची के पास में भले ही चन्दन की सुगन्ध भी महक रही हो, किन्तु वह उस तरफ नहीं देखती। इतना ही नहीं, अशुची के कीटाणु लेकर इधर उधर तरह २ की बीमारियों को भी फैलाती रहती है।

भ्रमर की प्रकृति की उपमा सुमति को दी जाती है। सुमतिवान् पुरुष सदैव सदाचरण व सत्कार्यों की ओर ही आकर्षित रहता है। अपनी सभी शक्तियों से परहित का एकमात्र दृष्टिकोण रखता हुआ वह मन, वचन और काया को शुभ कार्यों में नियोजित रखता है। उसका प्रत्येक कार्य दूसरों को सुख पहुंचाने वाला ही होता है। उसकी किसी भी इन्द्रिय से अशोभनीय व निन्दनीय कार्य नहीं होता। यह नहीं कि वह कान से दूसरों की निन्दा सुने, विकार भावनापूर्वक आंखों से

स्त्रियों को देखता फिरे या अश्लील सिनेमा आदि में भटकता रहे, जिह्वा से अश्लील व मर्मकारी शब्द बोले, अभक्ष्य भोजन का उपयोग करे या नाना दुर्व्यसनों में पडे अथवा हाथों से दूसरो की कैसी भी मानसिक व कायिक हिंसा करे, क्योंकि उसका मन रूपी हाथी सुमति रूपी अकुश से सदैव नियत्रित रहता है।

मक्खी स्वय ही दुर्गन्ध पर नहीं बैठती किन्तु उस दुर्गन्ध के कीटाणुओं से दूसरों को भी सक्रमित करती है उसी तरह बुरे आचरण वाले व्यक्ति अपनी कुमति द्वारा स्वय का ही बिगाड नही करते किन्तु अपने सस्कारों की भद्दी छाप दूसरों पर भी डालते हैं। दुर्व्यसनों वाले पुरुष मक्खियों की तरह ही तो हैं। इस तरह हम देखते हैं कि सुमति के अभाव में अच्छी चीज का भी दुरुपयोग ही होता है और हित के स्थान पर भी अहित होता है। वास्तविक दृष्टिकोण से देखा जाय तो इस जीवन विकास के लिये सुमति आत्मा के समान है।

आज विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायें तथा कई उप सम्प्रदायें अनेक श्रेष्ठ सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हुए भी सुमति के अभाव में घृणा व उपहास की पात्र बनी हुई हैं। यह आवश्यक है कि सभी को विचार स्वतत्रता हो तथा एक ही सनातन लक्ष्य प्राप्ति के प्रति सभी मौलिक दृष्टि से सोच कर नई २ विचारधाराए प्रस्तुत करें। किन्तु यह विचार स्वतत्रता केवल सघर्ष की ही कारणभूत रह जाय—यह लज्जाजनक वस्तुस्थिति

है। वहां यह सम्प्रदायवाद समाज विनाश के घुन के रूप में हो जाता है, जो विकास की जड़ों को खोखला करता रहता है। सम्प्रदायों के मतानुयायियों की कुमति ही विग्रह का कारण होता है। पद मोह स्वसत्ता, निजी स्वार्थों के रक्षण की भावना व ऐसी ही आत्मघातक प्रवृत्तियों को पनपाने की अगुओं की लालसा सुमति का सचार नहीं होने देती कि सभी सम्प्रदायें एक लक्ष्य प्राप्ति हित परस्पर सहायक रूप मे आगे बढ़ें।

इसी तरह वर्तमान राजनीति व समाज नीतियाँ भी न ट लोगो की स्वार्थपूर्ति की कुमति के कारण विश्व दल व 'बहुजन विनाशाय' साबित हो रही हैं। जिस राज्य व्यवस्था की स्थापना का ध्येय शान्ति बतलाया जाता है, वही हिंसा व अनीति का कारण बन अनीति करने वालों की ही सहायक बन जाती है।

इन सबसे ऊपर कुमति के अन्धों ने धर्म तक को स्वार्थ का अखाड़ा बना दिया है। धर्म जो जीवन निर्माण का आधार स्तम्भ है, मनुष्यों के अविवेक से प्रवञ्चना, आडम्बर और कलह का कारण बना हुआ है। दीक्षा के समय ही इतने आडम्बर किये जाते हैं कि कहीं २ तो वे विवाहोत्सवों को भी मात कर देते हैं। दीक्षा मे जहाँ वैराग्य का वातावरण होना चाहिये, वहां भोगोपभोग व मोह की मूर्च्छा फैलाई जाती है। आजकल लोग बिना मकानों के फुटपाथों पर पड़े रहते हैं, वस्त्र और अन्न के अभाव में नंगे व भूखे रहते हैं, अनावश्यक रूप से ऐसे

आडम्बरों मे धन की होली जलाना राजद्रोह है। झूठी शान के लिये आडम्बरों पर व्यय करना धन को पानी की तरह बहाना है। कई साधु भी दीक्षोत्सव आदि ऐसे ही धर्म के नाम पर किये जानेवाले आडम्बरों को उत्तेजना देते है, किन्तु ऐसे प्रपचो मे पडने से धर्म की उन्नति नही होती, परन्तु निज का जीवन ही पतित होता है। साधु जीवन तो इन आडम्बरों व प्रपचोंसे कतई दूर होना चाहिये। दीक्षोत्सवों के पक्ष में कई लोगो की दलील होती है कि पहले भी तो ऐसे उत्सव होते थे और शास्त्रों में स्थान २ पर उनका वर्णन आया है किन्तु आज की युग स्थिति को हम दृष्टि से परे नही कर सकते। केवल भूतकाल को देखने से ही धर्म की वृद्धि नही होती। धर्म का प्रचार इस युग में करना है, इसलिये यह आवश्यक है कि इस युग की आवश्यकताओं के साथ धर्म का सामजस्य स्थापित किया जाय। आज की समस्याओं को बडी गभीरता से समझते हुए यह कर्तव्य होगा कि हम बतायें कि धर्म इन सभी समस्याओं का सुन्दर रीति से हल निकाल सकता है। धर्म की विशेषता अहितकर पिटी हुई लकीर पर चलने में नही है किन्तु नये २ प्रयोगों के समक्ष भी वही सनातन सत्य लिये हुए टिके रहने में उसकी सच्ची महत्ता रही हुई है। यह विशेपता प्रमाणित करना धर्मानुयायियों के हाथ मे है, जिसे वे अपनी सुमति के सहयोग से धर्म का सही लक्ष्य स्थिर रख रीति रिवाजों को समयानुकूल बनाते है

भूतकाल की ओर ही जिनकी दृष्टि अडी हुई है, वे वर्तमान को देखकर घबड़ाते हैं कि अब क्या करें ? कलियुग आ गया है और मनुष्यों का जीवन विपरीत प्रवाह में बह रहा है। किन्तु वे इस बात को नहीं सोचते कि यह कलियुग क्यों आया ? समय तो अपने प्रवाह से बहता ही रहता है, लेकिन मनुष्यों में कुमति आई कि कलियुग आया और सुमति आई कि सतयुग आया। तो कलियुग और सतयुग का लाना तो हमारे ही हाथ में है फिर दूसरों को दोष देने से क्या लाभ ? आवश्यकता इसकी है कि हम वर्तमान को समझें—सभी समस्याओं का गंभीरता से अध्ययन करें और फिर भूतकाल की प्राप्त सत्सिद्धान्तों रूपी सुमति की सहायता से सुन्दर भविष्य के निर्माण हित अग्रसर होवें। यही सुमति का श्रेष्ठ उपयोग हो सकता है। मनुष्य निजी स्थिति व सामाजिक स्थिति का स्वयमेव निर्माता है और सभी तरह के विकास की जड़ स्वयं होने से उसी पर इस बात का उत्तरदायित्व है कि चारों ओर पतन ही पतन के चिह्न क्यों दृष्टिगोचर होते हैं ? उत्तरदायित्व कर्त्तव्य से पैदा होता है और इसलिये मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने साथ २ सामाजिक हितों का ध्यान रखे और यह देखता रहे कि दोनों के हितों का कहीं संघर्ष न हो तथा जहाँ भी व्यक्तिगत व सामाजिक हितों में अन्तर्क्लेश होता हो, वहाँ सामाजिक हितों को ही प्रधानता दी जाय। इसी दिशा में ज्यों २ मनुष्य निजी स्वार्थों को नियंत्रित व

अल्प करता हुआ सामाजिक हितों के प्रति अधिकाधिक सजग होता चला जायगा, वही उसका धार्मिक व आध्यात्मिक अभ्युत्थान होता रहेगा। क्योंकि वैभाविक निजत्व का पूर्ण विसर्जन ही धार्मिक विकास की चरम सीमा है।

आज के इस गभीर समय मे अपनी बुद्धि की आलोचना सर्वप्रथम आवश्यक हो जाती है, क्योंकि बुद्धि का तनिक भी विगाड हमारी व हमारे समाज की स्थिति को अधिक नाजुक बना सकता है। जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ कि सारे ससार की आधारगत समस्या बौद्धिक व नैतिक है, सुमति सम्पादन में ससार का विकास समाया हुआ है। मति बौद्धिकता की ओर इगित करती है तथा उसके पहले लगा हुआ 'सु नैतिकता को सम्मिश्रित करता है अत 'सुमति' यह मूल समस्या है और यदि हमको हमारा निज का भविष्य और समाज का भविष्य उन्नत व आदर्श बनाना है तो हमें सुमति सम्पादन करने में लग जाना चाहिये ताकि इस कलियुग के स्थान पर सतयुग का निर्माण किया जा सके और सुमति प्रभु की प्रार्थना करते हुए उनके निर्मल पद तक पहुँचा जा सके।

डिप्टीगज, सदर बाजार, दिल्ली] [६ ५ ५१

जीव रे तू पार्श्व जिनेश्वर वन्द

विभिन्न आकार प्रकार और स्वरूपों मे दिखाई देने वाला यह विशाल विश्व दो ही पदार्थों के सयोग से बना है—चेतन और जड। चेतन अकेला आत्मा है, जिसका स्वरूप अरूपी, अनादि और अनन्त है। किन्तु यह चेतन आत्मा जड के साथ सम्बद्ध होकर इस बनने, बिगडने और बदलने वाली दुनिया का निर्माण करता है। हम रातदिन देखते हैं—कोई जन्म लेता है, बढता है, विभिन्न पदार्थों का उपभोग करता है और कृश काय होता हुआ वृद्धत्व को प्राप्त कर मर जाता है तो क्या इससे यह समझें कि आत्मा के ये परिवर्तित रूप है और अन्त में आत्मा नष्ट हो जाता है। जैसा कि आधुनिक भौतिकवादियों की मान्यता है कि यह सजीवता देहोत्पादन के साथ ही उत्पन्न होती है और देह के विनाश के साथ ही विनष्ट हो जाती है

आर्थिक समस्या से भी अधिक भयंकर समस्या जो हमारे सामने खड़ी है, वह है नैतिक समस्या। और जब तक इस समस्या की सुलझन के साधन नहीं जुटाये जाते तब तक आर्थिक समानता भी समाज में शान्ति और सुख की स्थापना नहीं कर सकती। नैतिक समस्या को ठीक तरह से समझना ही आध्यात्मिक दृष्टिकोण की ओर आगे बढ़ना है, क्योंकि आध्यात्मिक सजगता ही चेतनता को उद्बोधित करती है और समाज के विकास का धरातल चेतन ही हो सकता है, जड़ नहीं। आज के भौतिकवादी पागल संसार को जड़ चेतन के विभेद को समझना ही होगा कि चेतनता का निवास जड़ से अलग और जड़ से ऊपर है। चेतन जड़ पर शासन कर सकता है किन्तु जड़ द्वारा शासित होने की अवस्था में चेतनता का वास्तविक स्वरूप अवश्य ही लुप्तप्राय हो जायगा।

हमारा सच्चा विकास आत्मा के मूल स्वभाव का ज्ञान करने और उस स्वरूप की ओर गतिशील होने के लिये प्रयत्नरत होने में ही है। किन्तु आज हम कई भ्रमणाओं में पड़ कर अपने मूल स्वभाव की विपरीत दिशा में ही भागने की कोशिश करते हैं। भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिये आत्मिक गुणों का क्रूरतापूर्वक घात करते हैं और उनके प्राप्त होने पर आत्म विस्मृत हो हिताहित के भान से परे हो जाते हैं। आज आप देखेंगे— भौतिक पदार्थों से सम्पन्न व्यक्ति किस प्रकार मदान्ध होकर अपने से नीची श्रेणी के व्यक्ति समूह पर भारी अत्याचार ढाते

है ? देह की ऊपरी सुन्दरता ही भौतिकवादियो के आकर्षण और मुग्धावस्था की केन्द्र हो जाती है। आत्मिक सौन्दर्य में उनका विश्वास नही होता। आज आप देखेंगे कि दैहिक सुन्दरता को प्रवृद्ध करने के कितने कृत्रिम साधनों का आविष्कार हो गया है। क्रीम, पाउडर, स्नो और न जाने क्या ?—आज की फैशन के अति आवश्यक अग हो गये हैं। मैं सोचता हूँ, शहरों में जितना मक्खन और दूध विकता होगा, उससे अधिक कीमत की यह शृगार सामग्री बिक जाती होगी ?

इसी प्रसग में मैं कहना चाहूगा कि आज बाह्याडम्बरों में अन्तर की वास्तविकता को खो दिया गया है। आप दर्पण मे बार बार अपना मुख देखकर अपने सौन्दर्य का अनुमान लगाने की चेष्टा करते है, किन्तु यह कभी आपने सोचा है कि दर्पण में दिखाई देने वाला सौन्दर्य नश्वर हैं [illegible] स्थायी, और ऐसा कौन सा सौन्दर्य है, जो स्थायी भी [illegible] सम्बन्धि [illegible] भगवान के नाम पर बनाये गये मन्दिरों को भी । करते । [illegible], से इतना अधिक सुसज्जित किया जाता है कि अन्दर जाने वाले व्यक्ति की इन्द्रिया अपने भोगोपभोग के सर्व साधन प्राप्त कर वास्तविक जागरण की वृत्तियों को विस्मृत कर जाती है। कहना न होगा कि प्रत्येक क्षेत्र में पौद्गलिक शक्ति ने चेतनता पर आधिपत्य जमा रखा है। यह आधिपत्य उसी तरह का है, जिस तरह एक गुलाम के साथ पहले के बादशाह वर्त्ताव किया करते थे। जड की लुब्धक व मोहक वृत्ति चेतन आत्मा को अपने ध्येय

से तो च्युत् करती ही है किन्तु इसके साथ ही उसे ऐसे विनाशकारी पतन की ओर आगे धकेलती है कि जहां से ऊपर उठना एक कठिन समस्या हो जाती है।

जिस जडमूलक सुख मे हम सुख मान बैठे है, वह केवल सुखाभास मात्र हैं और नित्य बदलने वाला है और बदलने का उसकी दिशा भी केवल दुःख एव विनाश की ही दिशा होता है। जडमूलक पदार्थों में परिवर्तन होते हैं, किन्तु आत्मा के सत्य स्वरूप में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता और यही कारण है कि आत्मा का चिरंतन सुख शाश्वतता में है, जो पौद्गलिक सम्बन्ध से मुक्त होने पर ही आत्मा को प्राप्त हो सकता है।

इस सारी जड-चेतन की मीमांसा का सार यही है कि हम अपने स्वरूप पर गहन चिन्तन करें और उसकी वास्तविकता को समझें तथा महसूस करें। हमारा स्वरूप भी वही है, जो कि परमात्मा का है क्योंकि मैं ऊपर ही कह चुका हूँ कि आत्मा का स्वरूप कभी भी अन्यथा नहीं होता और जो परिवर्तन हमें दृष्टिगोचर होता है, वह पौद्गलिक सम्बन्ध के अनुपात से ही परिलक्षित होता है। अतः पौद्गलिक जडता से पूर्णतया आत्मा का सम्बन्ध विच्छेद होने पर ही वह परमात्मापन को प्राप्त कर सकती है। अतः मूलतः उसके समान ही हमारी आत्मा में भी अमित शक्ति वर्तमान है किन्तु बादलों में आये सूर्य के समान जडता के आवरण में ढकी होने के कारण वह अमित शक्ति

प्रज्वलित अवस्था मे नही प्रतीत होती। भगवान् स्वय गौतम स्वामी के पूछने पर इस सत्य का विश्लेषण फरमाते है।

गौतम पूछते है—"हे भगवन्, क्या यह सत्य है कि ज्ञान, दर्शन तथा सुख रूप शक्तिया आपमें जहा अस्तित्व रूप में दिखाई दे रही है, वहा जड में नास्तित्व रूप मे ही वे दिखाई देनी चाहिये ?"

महावीर भगवान्—"हा, गौतम, ज्ञानादि अस्तित्व रूप में और जड आदि नास्तित्व रूप में परिणमन होते हैं।"

गौतम—भगवन्! क्या ये सभी गुण जैसे आपमें हैं, मूलत मेरे में भी हैं और ससार के सभी चैतन्य प्राणियों में भी हैं ?

महावीर—हाँ गौतम, जो मेरे में है, वे ही मूलत तुम्हारे में हैं, और ससार के सभी चैतन्य प्राणियों में भी हैं। अन्तर इतना ही है कि परमात्मा शुद्ध स्वरूप होता है, वहाँ ससार के अन्य प्राणी कर्म पुद्गलों से सम्बन्धित होने के कारण अपनी महाशक्तियों को अनुभूत नहीं करते। जैसे खान में गडा हुआ सोना और आग में तपाया हुआ सोना—दोनों स्वरूप की दृष्टि से एक ही हैं, किन्तु स्वरूप विशुद्धता की न्यूनाधिकता के दृष्टिकोण से उनमें अवश्य ही अन्तर दिखाई देगा, ठीक वैसा ही अन्तर कर्मबद्ध आत्मा तथा परमात्मा में समझा जाना चाहिये।

अत निष्कर्ष रूप में मेरा कहना यही है कि पार्श्व जिनेश्वर के परम स्वरूप से प्रेरणा लेकर हम हमारे चेतन को उस प्रकाश-

मान आदर्श से अनुप्राणित करे। जब तक हम निजत्व को—अपने स्वरूप को नहीं पहिचानेंगे, हम अपने अधिकारों की समीक्षा नहीं कर सकते और न अपने कार्यों की अच्छाई बुराई का ही अनुमान लगा सकते हैं क्योंकि साधनों की कार्य प्रणाली तो सदैव साध्य को दृष्टि में रखकर ही सञ्चालित की जा सकती है, परन् जहाँ साध्य की ही स्पष्टता नहीं है, वहाँ साधनों के स्पष्टीकरण का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यही बात उपनिषद् में भी बताई गई है—"सोऽहम्"—मैं वही हूँ, जो शक्ति का परम विकास ईश्वरत्व के रूप में प्रस्फुटित होता है। किन्तु आज भौतिक पदार्थों के जजाल में हम अपना वास्तविक स्वरूप भूले बैठे हैं और पुद्‌गलों के आधिपत्य में शासित हो रहे हैं। इस दास वृत्ति को त्याग कर चेतन के निज के शासकीय अधिकारों को समझने से ही प्रगति की दिशा स्पष्ट हो सकती है।

इस तथ्य को एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जाता है। एक बार एक बादशाह का मुँहलगा एक गुलाम था। उस गुलाम का बादशाह पर इतना प्रभाव था कि बादशाह हर हालत में अपनी मर्जी को छोड़ कर भी गुलाम की मर्जी को पहले रखता था। एक बार गुलाम रूठ गया और बादशाह उसे मनाने लगे। हजार, दस हजार, लाख, जागीर—बादशाह ने सब बता दिये किन्तु टस से मस भी नहीं हुआ। इतने में उसका वजीर आ गया। बादशाह ने उससे अपना मसला यह सुनाया। वजीर ने

कहा—आप परेशान न होइये, मैं उसे खुश कर दू गा। वजीर ने पीछे से गुलाम के दो चार कोड़े लगाये और उसकी तबियत ठीक कर दी। तब दरबार में गुलाम ने कह दिया—मैं खुश हूँ। इस तरह—आत्मा बादशाह है, किन्तु जड गुलाम को उसने इतना मुह लगा लिया है कि वह अपनी सत्ता को भी भूल गया है और अब आत्मा जड को शासित तभी कर सकता है, जब ज्ञान रूपी वजीर की सहायता से गुलाम की तबियत ठीक कर दी जाय। जड तो वह दानव है, जिसके प्रति आत्मसमर्पण करने से वह आपको ही निगल जाता है। अत भौतिक पदार्थों से ममत्व हटा कर ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश में अपने आत्मा के स्वरूप को पहिचानना ही हमारा प्रथम कर्त्तव्य है।

हमारी आत्मा में भी वही ईश्वरत्व समाया हुआ है, जिसकी हम प्रार्थना और पूजा करते है, ठीक उसी तरह, जैसे कि मीलों में फैलने वाले वट वृक्ष की सारी शक्ति उसके छोटे से बीज मे समाई होती है। आवश्यकता है, उस बीज को बोने, भली प्रकार सिंचित करने और अपने अथक पराक्रम से उसे विशाल क्षेत्र में प्रस्तारित करने की। अत इस पौद्गलिक ममत्व के आवरण को आत्मा पर से हटा कर अपनी अमित शक्ति को चीन्हने में ही सच्चा कल्याण समाविष्ट है।

अलवर (राजस्थान)

: १४ :

नियमित एवं व्यवस्थित जीवन

"सुमति सुमति दातार, प्रभु त्रिभुवन तिलोजी

विकास की मूल आधारशिला निश्चय ही सुमति—श्रेष्ठ बुद्धि पर टिकी हुई है। बुद्धि गति को प्रेरित करती है क्योंकि गति प्रयोजन के अभाव में कभी भी सचालित नहीं होती तथा प्रयोजन का निर्धारण व निर्णय सदैव बुद्धि की भूमिका पर ही होता है। इसलिये अगर बुद्धि 'सु' हुई तो वह गति को विकास-पथ की ओर मोड देगी तथा बुद्धि की मलिनता व कुत्सितता जीवन को पतन के गड्ढे की ओर ढकेलती है। इस दृष्टिबिन्दु से सुमति जीवन की प्रगति की प्रमुख साधिका होती है। अत भक्त कवि विनयचन्द्जी सुमतिनाथ परमात्मा से प्रार्थना करते है कि हे प्रभो, आप स्वय सुमतिवान् है और सुमति को अन्य प्राणियों के हृदय में जागृत करने वाले है। जिसकी बुद्धि में विकार नहीं होता, वही तो दूसरों को प्रेरित कर सकता है।

इसके साथ ही जिसमें अनुप्राणित करने का दिव्य बल होता है और जो दूसरों के विकास पथ का भी निर्देशन कर सकता है, उसीसे तो याचना भी की जाती है कि हे सुमति तुम सुमति दातार हो, मुझे भी सुमति प्रदान करो !

किन्तु मैं प्रश्न करूँ कि क्या हमारे जीवन में वह सुमति प्राप्त करने की तीव्र जिज्ञासा प्रकट हुई है या नहीं ? इसके लिये आत्मशोधन करने की जरूरत पड़ेगी। जैसे एक सटोरिया फोन पर चाँदी सोने के भाव सुन रहा हो, उस समय उसकी कितनी एकाग्र उत्कण्ठा उस तरफ होती है, वैसा ही देखिये कि क्या सद्ज्ञान प्राप्ति की ओर आपका प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न हो गया है ? प्राप्ति का सुनिश्चित मार्ग तन्मयता है और तन्मयता ऐसी कि अर्जुन को लक्ष्यवेध करते समय भारी जनसमूह के बीच सिवा मोरपिच्छ आख के और कुछ भी नहीं दिखाई दिया, तो जीवन का ध्येय अवश्य ही उपलब्ध किया जा सकता है।

मनुष्य की बात छोड़िये, एक बार कीड़े मकोड़ों तक के प्राकृतिक जीवन की ओर देखेंगे तो विदित होगा कि वे भी अपनी रुचि (ध्येय) की ओर कितने सजग हैं तथा ध्येय से डिगाने वाले स्थानों की ओर अपनी बुद्धि को नहीं बिगाड़ते हैं। भँवरा एक कीड़ा ही तो है, फिर भी उसकी नैसर्गिक रुचि है कि वह पुष्पों की सुगन्धित सुवास की ओर आकृष्ट होता है। कहीं से भी उस तक वह सुवास पहुँचेगी कि वह उन फूलों तक चला जायगा या स्वयं उस सुवास की टोह में घूमता

फिरेगा। लेकिन यह बात खास समझने की है कि यह भँवरा कभी भी मैले के ढेर या मोरी पर नही बैठेगा और इसे ही बुद्धि की श्रेष्ठता का रूपक समझा जाना चाहिये। चूकि उसको यह बुद्धि—समझ, पक्के तौर पर पडी हुई है कि वह अपनी रुचि के पदार्थ के सिवाय दूसरी ओर झाके भी नही, वह अपने ध्येय—रुचि की ओर ही बढता है—विपथगामी नहीं होता। इस स्थिति में सोचें तो मनुष्य तो अन्य प्राणियों व जन्तुओं में सर्वाधिक विवेकशील प्राणी माना जाता है, अत आवश्यक है कि वह अपनी बुद्धि की गति को इस तरह ढाले कि पतन के दलदल में न फस कर निरन्तर अपने विकास—ध्येय के प्रति उत्थान करता रहे।

अब यह देखना जरूरी है कि ध्येय की तरफ अग्रसर कराने वाली 'सुमति' की प्राप्ति कैसे सुलभ हो सकेगी ?

जैसे कि ऊपर बताया गया है कि भँवरा सदैव फूलों की सुवास की ओर ही मुडता है, कभी विष्टे की तरफ देखता भी नही। वैसी ही तन्मयता सुमति प्राप्त करने के लिये आवश्यक है। परन्तु ऐसी तन्मयता नियमित एव व्यवस्थित जीवन क्रम से ही प्राप्त हो सकती है। अव्यवस्थित जीवन द्वारा ज्ञान की अभिरुचि एव प्राप्ति अवश्य ही दुष्कर होगी। जीवन साधक के लिये भगवान् महावीर का यह वाक्य निस्सन्देह पथ प्रदर्शन का कार्य करता है कि—

"काले काल समायरे "

यह नियमितता का मूल मंत्र है कि प्रत्येक कार्य को यथा-समय सम्पन्न कर लिया जाय। अगर इस कथन को ही पूर्णतया हृदयगम कर लिया जाय तो दिशासूचक यंत्र की सूई की तरह जीवन के कठिन क्षणों में भी अपने लक्ष्य के प्रति सफल सकेत करता रहेगा।

साधु जीवन की ही नियमित व्यवस्था के विषय में हम सोचें तो जैसा कि निर्देश है कि प्रथम प्रहर में वह स्वाध्याय करे, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय में आहारादि तथा चतुर्थ में पुन स्वाध्याय में लग जाये एवं इसी तरह रात्रि में स्वाध्याय, ध्यान, निद्रा तथा पुन स्वाध्याय करे। इस कार्यक्रम का उद्देश्य है कि साधक व्यक्ति अपने जीवन के प्रत्येक क्षण का अधिकतम लाभ लेने का प्रयास करे। इस तरह के निर्धारण से समझा जाना चाहिये कि जिस स्थान या प्रदेश में जिस प्रकार का काल या व्यवस्था हो उसके अनुकूल प्रवृत्ति की जाय, क्योंकि आज जब कि १० ११ बजे आहार का समय होता है तो उक्त कथन के अनुसार १ २ बजे आहारार्थ जाना उपयुक्त नहीं होता। आज साधु लोग भिक्षा के लिये तो समयानुकूल प्रवृत्ति करते देखे जाते हैं किन्तु स्वाध्याय व ध्यान का कार्य-क्रम व्यवस्थित कम पाया जाता है। यदि गंभीर दृष्टि से विचारा जाय तो साधु का आदर्श इन प्रवृत्तियों पर विशेष रूप से आधारित है। शास्त्रों में भी कहा है कि एक वर्ष का साधु जीवन भी सर्वार्थसिद्ध (उच्चतम स्वर्ग) के सुखों से भी अधिक

आनन्ददायक बन जाता है। इसका अर्थ है कि साधु के जीवन क्रम में कितने भव्य आत्मानन्द का अद्भुत विकास व व्यापन हो जाना चाहिये ?

नियमित व व्यवस्थित जीवन का यह अवश्यभावी प्रभाव होता है कि विकास का प्रवाह सुयोग्य विचारोंके साथ स्वयमेव ही फूट पड़ता है। किन्तु इस स्थिति के अभाव ने आज चारों ओर विकृति की काली छाया फैला रखी है। आज का साधु भी अन्य प्राणियों को शान्ति व परमानन्द का रसास्वादन कराने के बजाय स्वय राग, द्वेष एव साम्प्रदायिक व्यामोहों के दाह में जल रहा है। दूसरी ओर गृहस्थ जीवन भी अनियमित व अव्यवस्थित है और एक तरह से ऐसे गृहस्थ जीवन का भी परिणाम है कि यह विशृंखलता साधु जीवन में भी मिटती नहीं। इसलिये मैं तो कहूँगा कि गृहस्थों का जीवन भी नियमित होना अत्यावश्यक है, क्योंकि साधुओं का यथेष्ट विकास भी गृहस्थों के सहयोग से ही सफल हो सकता है।

यह सर्वथा सत्य है कि समय का सर्वोत्तम उपयोग करने वाला व्यक्ति ही अपनी सच्ची प्रगति साध सकता है। यदि कोई शेखचिल्ली की तरह कोरी भविष्य की मधुर कल्पनाओं में ही रम जाय और वर्तमान के प्राप्त क्षणों को व्यर्थ ही में खोता रहे तो उसकी भविष्य में विकास करने की शक्ति क्षीण हो जायगी। भविष्य का निर्माण वर्तमान की कठोर आधारशिला पर ही

होता है और इसी दृष्टि से शायद समय के महान् महत्व को सुप्रकट करने के लिये महावीर ने निर्देश किया कि—

"समय, गोयम ! मा पमायए ..

हे गौतम ! तू 'समय' मात्र का भी प्रमाद आलस्य मत कर और 'समय' क्या, आज के सैकिंड से भी अल्पतम काल विभाग। अत यह कभी भी विस्मृत नहीं किया जाना चाहिये कि नष्ट किया हुआ वैभव पूर्ण परिश्रम द्वारा फिर से प्राप्त किया जा सकता है, खोया हुआ स्वास्थ्य उचित पथ्य व व्यायाम व सयमित जीवन द्वारा पुन मिलाया जा सकता है, यहाँ तक कि भूला हुआ ज्ञान भी निरन्तर अध्ययन द्वारा फिर से उपलब्ध किया जा सकता है, लेकिन एक बार नष्ट किया हुआ समय वापिस कभी भी प्राप्त नहीं होता। वह तो सदैव के लिये विस्मृति के महागर्भ में विलीन हो जाता है, उसके पीछे सिर्फ अतीत की छाया मात्र रह जाती है।

अत समय का समुचित मूल्यांकन ही नियमितता व व्यवस्थितता की कुंजी है, जबकि हम देखते हैं कि आज के साधारण जीवन में समय को यथायोग्य महत्व नहीं दिया जाता। जीवन का कोई नियमित व्यवस्था-क्रम ही नहीं। वैसे की हाय हाय ऐसी देखी जाती है कि सुबह से लेकर रात तक घाणी के बैल की तरह जुटे ही रहते हैं तृष्णा के पीछे पागल होकर। उन्हें अपने जीवन में शान्ति का अनुभव ही नहीं होता और उसका स्पष्ट कारण है कि समय का सदुपयोगपन व

सदुपयोग किये बिना मानव का मन कभी भी सुखी नहीं बन सकता।

गृहस्थ भी अपने समय के सदुपयोग के लिये उसका इस तरह दैनिक विभाजन कर सकते हैं कि दिन व रात के २४ घंटों में से ६ घंटे विश्रान्ति, ६ घंटे शारीरिक व्यवस्था-भोजन शौचादि में तथा ६ घंटे जीवन-निर्वाह के कार्यों में लगावे। व्यापारी लोग समझते हैं कि कम समय में पूरी आमदनी नहीं की जा सकती किन्तु यह सही समझिये कि न्यायपूर्वक अर्जन के लिये यह पर्याप्त है कि नियमित समय में तन्मयता पूर्वक कार्य किया जाय। इस तरह सारे कामों के बाद बचे हुए ६ घंटों को या उनमें से ५ ४ ३ और यहाँ तक कि १ घंटा भी शुद्ध भावना के साथ आत्म चिन्तन में लगाया जाय तो मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि आपके जीवन में नवीन ज्योति की चमक फैल जायगी। कम समय भी हुआ किन्तु अगर वह भी नियमित रहा तो कार्यसिद्धि की असम्भावना कभी भी नहीं रहती। चार्ल्स फ्रास्ट नामक एक चमार कहते हैं कि एक घंटा ही, पर प्रतिदिन नियमित अध्ययन करने से गणित का महान् आचार्य बन गया। इसी तरह कुछ समय भी अगर आप आत्म-विचारणा में नियमित रूप से नित्य प्रति देंगे तो उसका यह फल होगा कि आप अपनी दैनिक प्रवृत्तियों की यथार्थ आलोचना करना सीखेंगे और उसके जरिये निश्चय ही आपकी मानसिक स्थिति का सुधार होगा और उसका मतलब है कि

होता है और इसी दृष्टि से शायद समय के महान् महत्त्व को सुप्रकट करने के लिये महावीर ने निर्देश किया कि—

"समय, गोयम ! मा पमायए

हे गौतम ! तू 'समय' मात्र का भी प्रमाद आलस्य मत कर और 'समय' क्या, आज के सैकिंड से भी अल्पतम काल विभाग। अत यह कभी भी विस्मृत नहीं किया जाना चाहिये कि नष्ट किया हुआ वैभव पूर्ण परिश्रम द्वारा फिर से प्राप्त किया जा सकता है, खोया हुआ स्वास्थ्य उचित पथ्य व व्यायाम व सयमित जीवन द्वारा पुन मिलाया जा सकता है, यहाँ तक कि भूला हुआ ज्ञान भी निरन्तर अध्ययन द्वारा फिर से उपलब्ध किया जा सकता है, लेकिन एक बार नष्ट किया हुआ समय वापिस कभी भी प्राप्त नहीं होता। वह तो सदैव के लिये विस्मृति के महागर्भ में विलीन हो जाता है, उसके पीछे सिर्फ अतीत की छाया मात्र रह जाती है।

अत समय का समुचित मूल्याकन ही नियमितता एव व्यवस्थितता की कुजी है, जबकि हम देखते हैं कि आज के साधारण जीवन में समय को यथायोग्य महत्त्व नहीं दिया जाता। जीवन का कोई नियमित व्यवस्था क्रम ही नहीं। पैसे की हाय हाय ऐसी देखा जाती है कि सुबह से लेकर रात तक घाणी के बैल की तरह जुटे ही रहते हैं तृष्णा के पीछे पागल होकर। उन्हें अपने जीवन में शान्ति का अनुभव ही नहीं होता और उसका स्पष्ट कारण है कि समय का सद्विभाजन व

सदुपयोग किये विना मानव का मन कभी भी सुखी नहीं वन सकता।

गृहस्थ भी अपने समय के सदुपयोग के लिये उसका इस तरह दैनिक विभाजन कर सकते हैं कि दिन व रात के २४ घटों में से ६ घटे विश्रान्ति, ६ घटे शारीरिक व्यवस्था भोजन शौचादि में तथा ६ घटे जीवन-निर्वाह के कार्यों में लगावे। व्यापारी लोग समझते है कि कम समय में पूरी आमदनी नहीं की जा सकती किन्तु यह सही समझिये कि न्यायपूर्वक अर्जन के लिये यह पर्याप्त है कि नियमित समय में तन्मयता पूर्वक कार्य किया जाय। इस तरह सारे कामों के बाद बचे हुए ६ घटों को या उनमें से ५ ४ ३ और यहाँ तक कि १ घटा भी शुद्ध भावना के साथ आत्म चिन्तन में लगाया जाय तो मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि आपके जीवन में नवीन ज्योति की चमक फैल जायगी। कम समय भी हुआ किन्तु अगर वह भी नियमित रहा तो कार्यसिद्धि की असभावना कभी भी नहीं रहती। चार्ल्स फ्रास्ट नामक एक चमार कहते हैं कि एक घटा ही, पर प्रतिदिन नियमित अध्ययन करने से गणित का महान् आचार्य वन गया। इसी तरह कुछ समय भी अगर आप आत्म-विचारणा में नियमित रूप से नित्य प्रति देंगे तो उसका यह फल होगा कि आप अपनी दैनिक प्रवृत्तियों की यथार्थ आलोचना करना सीखेंगे और उसके जरिये निश्चय ही आपकी मानसिक स्थिति का सुधार होगा और उसका मतलब है कि

आपकी मति 'सुमति' बनती जायगी। तब उस सुमति के आधार पर आपके कदम विकास मार्ग की ओर आगे बढने लगेंगे। इस आत्म विचारण के लिये मैं खास तौर से जोर देना चाहता हूँ कि आप सही तरीकों से जीवन-विकास के पथ का अन्वेषण करें और इसके लिये प्रगति की प्रेरणा देने वाले साहित्य का अध्ययन व मनन अनिवार्य होगा। इससे मेरा यह प्रयोजन नहीं कि माला फिराना या अन्य धार्मिक क्रियाएँ करना निष्प्रयोजन है किन्तु अभिवांछित ज्ञान के अभाव में इनका वह असर नहीं हो पाता, जो दरअसल होना चाहिये। सवाल तो यह है कि इस आध्यात्मिक दिशा में उपयुक्त समय हमारे जीवन को उत्थान की ओर किस प्रकार ले जाता है?

मनुष्य अपने जीवन के क्रमबद्ध विकास की ओर तभी मुड सकता है, जबकि उसे अपने जीवन, अपने विचारों व अपनी प्रवृत्तियों को स्वयमेव भलीभाति पहचानने व परखने का मौका मिले और यह तभी हो सकता है कि वह अपने दैनिक कार्यक्रम में कुछ भी निश्चित समय आत्म चिन्तन के लिये अलग निकाल दे। अपनेआपको भी टटोले बिना अपना लेखा जोखा समझ में नहीं आता है। वही दुकानदार अपने व्यापार को बढाने के लिये नये २ तरीके सोच सकता है, जो अपने कारबार का बराबर हिसाब रखता है क्योंकि हिसाब देख २ कर उसे लगता रहता है कि कहाँ कमी है और किस तरह पूरा किया जा सकता है। उसी तरह आत्मचिन्तन व आत्मालोचना से अपने जीवन

को सुव्यवस्थित बनाने की ओर सुदृढ मनोवृत्ति का निर्माण होता है और यही मनोवृत्ति बुद्धि को सुष्ठु बनाते हुए जीवन के सभी पक्षों को समुन्नत बनाती है।

जीवन चाहे लौकिक हो या आध्यात्मिक—उसमें व्यवस्था बद्ध पद्धति का अतीव ही महत्त्व होता है। गृहस्थ जीवन की सुन्दर व्यवस्था के सम्बन्ध में एक उदाहरण मुझे याद आता है जिससे पता लगेगा कि इस तरह कोई भी अपने लिये कैसे तेजवान् भविष्य का निर्माण कर लेता है? दूसरे शब्दों में व्यवस्था का नाम विकास कहा जाना चाहिये।

एक बार बाजार के बीच से उस नगर के राजा की सवारी निकल रही थी। चारों तरफ भीड खडी थी व सैकडों नरनारी राजा का जय घोष कर रहे थे। राजा अपने यश वैभव को निरख कर फूला नही समा रहा था। इस बीच उसकी दृष्टि अचानक ही एक ऐसे व्यक्ति पर जा पडी, जिसके कोई आभूषण धारण किये हुए नही थे तथा वस्त्र भी अति साधारण थे लेकिन उसके चेहरे पर ऐसा तेज चमक रहा था, जो किसी के भी हृदय को बरबस ही प्रभावित कर सकता था। उसका शरीर स्वस्थ व सुगठित था तथा मुख शान्तचित्तता धारण किये हुए दिखाई देता था, क्योंकि वह राजा के ठाठबाट से जरा भी आकर्षित होता हुआ नही लगा। आश्चर्यान्वित हो राजा ने अपने आमात्य को उससे बात करने की इच्छा प्रकट की और तत्क्षण ही वह वहां उपस्थित कर दिया गया। उस समय भी

उसकी आकृति पर जो गभीर मस्ती सी छाई हुई थी, उसे देख कर राजा स्तब्ध सा रह गया। राजा ने धीरे से पूछा—तुम कौन हो?

उसने शान्ति से नि सकोच जवाब दिया—महाराज, मैं एक मजदूर हूँ। अब तो राजा का आश्चर्य और भी बढ गया। उसने जानना चाहा कि उसकी आमदनी कितनी है? झूठे वैभव की मृगतृष्णा के पीछे भागने वाले को भला इसका क्या अनुभव कि सच्चे व निराबाध सुख का निवास कहाँ होता है? ऐसे कूपमडूक की समझ में आत्म सुख के लहलहाते समुद्र की गहराइयाँ भी तुच्छ ही लगती है। इसी कारण राजा ने उसके दिव्य सुख को ढूँढने के लिये और कहीं न मुडकर उसकी आजीविका के बारे में प्रश्न किया।

मजदूरने अपनी व्यवस्थाका स्पष्टीकरण करते हुए बताया कि वह रोज के ६ टके* (३ आना) पैदा करता है और उन्हें उपयुक्त कार्यों के लिये विभाजित कर सुखपूर्वक जीवन निर्वाह करता है। यह सुनकर राजा ने उसके वैसे विभाजन के बारे में जानने

---

* पुराने समय में पदार्थों के भाव बहुत ही सस्ते थे, इस कारण यह रकम भी काफी होती थी अलाउद्दीन के जमाने में ही तीन पैसे सेर घी आदि के भाव बताये जाते हैं। अभी २ मेवाड में भी एक आने के ७० पैसे (ढीगले) होते थे, जिनसे काफी सामान खरीदा जा सकता था।

की इच्छा प्रकट की तो मजदूर ने कहा—राजन्, मैं अपने जीवन को पूर्णतया व्यवस्थित रखता हूँ। कुल आय का एक हिस्सा (छठा) कर्जदार को देता हूँ, एक हिस्सा अपने मित्र को, एक हिस्सा धूलियों को, एक हिस्सा खाने पीने में, एक हिस्सा दान में देता हूँ तथा अन्तिम हिस्सा खजाने (जमा) में रख लेता हूँ।

राजा को तो उसका इस तरह कहना पहेली की तरह लगा और उसने उससे स्पष्ट कहनेको कहा। मजदूर ने समझाया कि उस पर माता पिता का कर्ज है, पर कर्ज तो उससे क्या चुके, एक हिस्से के द्वारा उनकी सेवा सुश्रूषा का वह विशेष प्रबन्ध करता है। एक हिस्सा उस मित्र के लिये है जो जीवन भर उसके सुख दुखों का साझी है और वह है उसकी अपनी धर्म पत्नी। आज तो लोगों को मित्रता की सच्ची पहिचान भी नहीं रह गई है। राग रंग में फसा कर जो धीरे २ पतन की राह पर ढकेल देते है, उन्हें मित्रों की सूची में पहले लिया जाता है। किन्तु भर्तृहरिजी ने सच्चे मित्र के लक्षणों का परिचय इस तरह दिया है—

"पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्य निगुह्यति गुणान् प्रकटी करोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्त ॥"

और इन लक्षणों की पूरी २ पूर्ति विवेकशील धर्मप्रिय

तीय स्त्री में मिलती है, इसलिये आज के युग में स्त्रीत्व की समाज में नवीन प्रतिष्ठा की आवश्यकता है। स्त्री गृह व्यवस्थापिका या काम पिपासा को शान्त करने की साधन होने के कारण मित्र नहीं कही गई है, बल्कि इसलिये कि वह पति को सदैव सद्‌पथ पर चलनेकी प्रेरणा देती रहती है और न मानने पर सत्याग्रह करके भी दुष्मार्ग से हटाने का प्रयास करती है। पति के गुप्त रहस्य को गोपन करके रखती है, गुणों का विस्तार करती है। आपत्ति के समय भी पति का सहवास नहीं त्यागती और अवसर आने पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करके भी पति की सेवा करती है। इन्हीं महान् गुणों के कारण वह मेरी मित्र है। कहा है —पतिं नयतीति पत्नि। अपने बच्चों को सस्कारित करना, अक्षरी ज्ञान एव व्यावहारिक शिक्षा देकर पूर्ण योग्य बनाना भी उसका कर्तव्य है।

तीसरे हिस्से के लिये मजदूर ने कहा कि धूलिये—धूल में खेलने वाले उसके बच्चे हैं। वह उन्हें पूर्ण योग्य बनाने के लिये उनका भी खास खयाल रखता है। चौथा खाने पीने, पाँचवा दान देने तथा छठा समय पर काम में लेने के लिये सग्रहार्थ नियोजित करता है। इसके सिवाय उसने कहा कि मैं स्वय श्रम करता हूँ, मेरा जीवन परतन्त्र नहीं है, अत मैं अपनी सारी शक्तियाँ अपने जीवन को बनाने में लगाता हूँ। यही मेरी इस स्थिति का रहस्य है।

तात्पर्य यह है कि जीवन को नियमित व व्यवस्थित

रखने वाला व्यक्ति कभी भी दु खी नहीं होता, बल्कि हर क्षेत्र में वह विकास की तरफ आगे २ कदम बढाता रहता है। आज यही नियमितता मनुष्यों के पारिवारिक, आर्थिक व सामाजिक जीवन तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रविष्ट हो जावे तो नई ही परिस्थितियों का चारों ओर निर्माण किया जा सकता है। लेकिन वर्तमान स्थिति कुछ विचित्र सी ही है। जीवन का क्रम अस्त व्यस्त बन रहा है। कर्ज करके भी पुरानी रूढियों की लकीर पीटी जाती है। नीति, कर्त्तव्य व परिश्रम में लोगों का मन नहीं लगता। जीवन में हिंसा, कपट, विश्वासघात आदि असामाजिक दोषों का समावेश हो रहा है। धार्मिक कार्यों मे हाथ धूजते है, दान देते हुए दिल धडकने लगता है। इन सारी प्रवृत्तियों से आज का सामाजिक जीवन भी छिन्न भिन्न हो रहा है। 'कुमति' का जैसे साम्राज्य बढता चला जा रहा है।

और जहां कुमति है वहा अव्यवस्था है, स्वार्थान्धता है और एक शब्द में पतन का ढालू मार्ग है, जहा से एक बार फिसलने पर फिर अपने आपको नियत्रित कर सकना भी कठिन हो जाता है। तुलसीदास जी ने भी कहा है—

"जह सुमति, तह सम्पत्ति नाना।
जह कुमति, तह विपति निधाना॥"

इसलिये अन्त में मैं यही कहना चाहूंगा कि आप समय को व्यर्थ मे न गुमावें तथा उसे अपने जीवन को नियमित व व्यवस्थित करने में लगावें ताकि उस व्यवस्था के सद्भाव में आप

अपने अन्तर का सम्यक् अवलोकन कर सके और सद्ज्ञान प्राप्त करते हुए अपने सरल विकास का मार्ग ढूंढ सकें। प्राप्त की हुई सुख सुविधाओं को शुभ कार्यों में प्रयुक्त करके अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को सार्थक बनावें। जो जीवन में नियमितता व व्यवस्था का महत्त्व समझ लेता है, वही भगवान् सुमतिनाथ की 'सुमति' का फल याचक बन कर अपने जीवन विकास की ओर गति करने लग जाता है।

एस० एस० जैन सभा भवन,
सब्जीमंडी, दिल्ली] [४ ३ ५१

: १५ :

"मैं कौन हूं ?"—एक प्रश्न

श्रेयास जिनन्द कुमर रे

जब तक ड्राइवर को यह ज्ञान नहीं होता कि किस मशीन के सचालन से मोटर चलेगी और किसके द्वारा वह ठहरेगी तथा किसके द्वारा उसकी गति का नियत्रण होगा, वह कुश लतापूर्वक मोटर चला नहीं सकता और यदि उसने चलाई भी तो दुर्घटना में निजको, दूसरों को व मोटर को भी साथ ले डूबेगा। ऐसा ही हाल मनुष्यों का भी हो सकता है, जो 'अपने आप' को पहिचानते नही। आत्मा इस जीवन के द्वारा प्रगति की ओर उन्मुख होता है, किन्तु उसके वास्तविक स्वरूप के प्रति अनभिज्ञ होने की अवस्था में दुर्घटना का ही अंदेशा रहता है, जिसमें अमूल्य जीवन के विनाश के साथ आत्मा भी पतन के मार्ग चला जाता है और पतित आत्मा अपने कुप्रभाव से अन्य जीवों को भी अपने साथ ले डूबता है। इसीलिये इस

प्रार्थना में कवि विनयचन्द्रजी श्रेयांस जिनेन्द्र को स्मरण करते पर यों जोर दे रहे हैं कि उनके आदर्श से हम भी अपनी विशाल आत्म शक्ति को पहिचानें।

आत्मस्वरूप के प्रति अनभिज्ञता का एक प्रधान कारण यह भी है कि हमारे देश का बहुत बडा हिस्सा 'अवतारवाद' में विश्वास करता है। 'यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत!' के सिद्धान्तानुसार ससार को सकटों से उबारने के लिये स्वय ईश्वर ही भिन्न २ समय पर भिन्न २ रूप में अवतरित होते हैं। कभी राक्षसों के अत्याचारों को समाप्त करने के लिये वे 'नरसिंह' हुए तो कभी 'राम' और 'कृष्ण' रूप लेकर उन्होंने ससार की गति को सत्पथ की ओर मोडा। इसके सिवाय वे लोग यह भी विश्वास रखते है कि वही ईश्वर सृष्टि का कर्ता भी है तथा उसकी मर्जी के बिना धरती का एक भी कण और पेड का एक भी पत्ता नही हिलता। मनोवैज्ञानिक रूप से सोचें तो इस मान्यता के द्वारा साधारण जनता में आत्मविस्मृति व अकर्मण्यता का भाव फैलता गया। निज की शक्ति के प्रति अविश्वास समाता गया और यह सोचा जाने लगा कि इस विशाल विश्व में उसका अस्तित्व किसी महत्त्व का धारक नहीं। इस प्रकार की हीनमन्यता (Inferiority Complex) की भावना ने जनता में फैलने वाली सजगता व चेतनता का विनाश किया और उसे यह मानने पर मजबूर किया कि परमात्मा ही सब कुछ है, जो उनकी आत्मशक्तियों से परे एक

एक अभिनेता के समान होता है, जिसके जीवन में वास्तविकता कुछ नहीं, वल्कि दूसरों के दिखाने के लिये की गई क्रियाओं का पुञ्ज होता है, और अस्वाभाविक क्रियाओं में कभी प्रेरणा नहीं रहती। अत यह समझना अनिवार्य है कि प्रत्येक प्राणी ही अपनी समस्याओं को उलझाता और सुलझाता है तथा उनका उचित निराकरण करते हुए आगे बढ जाता है, जो आगे बढना उसे मुक्ति की सीमा तक ले जा सकता है। 'नर से नारायण' की रीति जैन दर्शन मानता है और उसीके द्वारा समाजमें प्रगति के प्रति उत्साह, कर्मण्यता के भाव तथा स्वशक्ति की परिचय प्ररणा व्याप्त हो सकती है।

इसलिये जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हू, मोटर ड्राइवर की तरह हमको यह जानना जरूरी है कि आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है और उसका सही सचाल्न करने के लिये किन साधनों का प्रयोग अति आवश्यक है?

भौतिकवादियों की मान्यता के अनुसार आत्मा कोई ऐसा तत्त्व नहीं, जो इस जीवन के साथ ही अन्य स्थान से आकर पैदा होता है और जीवन की समाप्ति साथ ही अन्य स्थान को चला जाता है, किन्तु केवल भौतिक द्रव्यों के सम्मिश्रण से समुत्पन्न होकर बिखर जाता है, ऐसा उनका कथन है। परन्तु यह कथन उचित नहीं क्योंकि इस देह में निवास करने वाली सूक्ष्म चेतना की झलक ही आत्म तत्त्व के अस्तित्व का प्रमाण है। यह आत्म तत्व ही नासिका, चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियों का

सञ्चालक तथा शरीर के प्रत्येक प्रदेश में व्याप्त होता है। वह इतना सूक्ष्मातिसूक्ष्म है कि चर्म चक्षु की दृष्टि उसे नहीं देख सकती। इसके लिये स्वय भगवान महावीर अपने समक्ष बैठे हुए गौतम स्वामी को फरमाते है —

"न हु जिणे, अज्ज दिसई"

अर्थात्- तुम्हें जिन भगवान् नही दिखाई देते। इसका रहस्य यह है कि तुम जिस शरीर को देख रहे हो, वह जिन नहीं। वह तो पुद्गलों का पुज मात्र है, जो एक दिन विनाश की गहरी छाया में लुप्त हो जायगा। वास्तविक जो तत्त्व है, वह है अदृश्य आत्मा की अतुल शक्ति, जिसे अनुभव से ही महसूस किया जा सकता है। जब 'मैं कौन हूँ" के ध्रौव्य स्वरूप की अनुभूति को समझने का प्रयास किया जाता है, तब ही आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझ मे आ सकता है। तब वह 'जिन भगवान्' को देख ही नही सकता, बल्कि उनके अनुरूप अपना भी जीवन निर्माण कर सकता है।

"मैं कौन हूँ" का रहस्य प्रतिक्षण उद्भूत होता रहता है। 'मेरा हाथ, मेरा कान, मेरा शरीर' ऐसी अन्तर्ध्वनि का जो सचालक है, वह इन्द्रियातिरिक्त है और वही चैतन्य शक्ति है। इसके साथ ही 'मेरा घर, मेरी पुस्तक, जिस प्रकार सम्बन्धित होने पर भी हमसे अलग है, उसी तरह शरीर की पौद्गलिक माया भी आत्म तत्त्व से पृथक् है। इसका प्रमाण यह है कि बडे २ वैज्ञानिकों को, जो नास्तिक होते है, अपने अनुसन्धान

आदि में आत्मानुभव नही होता तो यह आत्मानुभव जड जड पदार्थों के ससर्ग से भले हो किन्तु उनके अस्तित्व से एक अनुभूति होती है और उसीका नाम आत्मिक अनुभूति है। आचाराग सूत्र में कहा है —

"तक्का तत्थ न विज्जइ"—

अर्थात् तर्क से आत्मिक शक्ति की अनुभूति नही हो सकती। उपनिषद् में तर्क करने वाले के लिये 'नेति नेति' शब्द का प्रयोग किया गया है। अत आत्मस्वरूप को समझने के लिये सच्ची जिज्ञासावृत्ति ही आवश्यक है।

अनादि काल से आत्मा का देह के साथ सम्बन्ध है, अत दोनों एक समान ही प्रतिभासित होते हैं किन्तु वस्तुत दोनों भिन्न २ हैं। क्योंकि शरीर जड, ज्ञान रहित तथा स्वरूप को पहिचानने में अयोग्य होता है, चैतन्य आत्मा के द्वारा ही आत्मा के तथा जड के स्वरूप को पहिचाना जा सकता है। घडी, मोटर, रेल चलते जरूर है किन्तु वे चैतन्य की प्रेरणा से ही चलते हैं। केवल चलने से उनमें चैतन्य नहीं माना जाता, उसी प्रकार शरीर स्वय चालित नहीं, बल्कि चैतन्य शक्ति द्वारा चलाया जाता है। किन्तु अज्ञान की प्रबलता के कारण आत्मा स्वय अपने अस्तित्व के विषय में शकित होता है। इसके लिये इन प्रश्नों पर रोज चिन्तना की जाय कि 'मैं कौन हूँ ?' इस 'मैं' की अनुभूति का उद्गम कहा से होता है ? मेरा क्या स्वरूप है ? मेरी गति और प्रगति की दिशा क्या है ?

यह सत्य है कि इन्द्रिया जिस विषय को ग्रहण करती है, स्वय उस विषय से अनभिज्ञ रहती है। उनका जो ज्ञान होता है, वह एक विशिष्ट शक्ति के साहचर्य्य से होता है। क्योंकि जो इन्द्रिया जिस विषय को ग्रहण करती है, उनके नष्ट होने पर भी उनके माध्यम से प्राप्त हुआ ज्ञान नष्ट नहीं होता, उसका अनुभव प्रतिक्षण होता रहता है। अत इन्द्रिया विनाशी है और उनका नियन्ता उनसे पृथक् और नित्य है। वही आत्मा है। यदि भौतिक शरीर और इन्द्रिया ही सब कुछ हैं और उनसे पृथक् कोई शक्ति नहीं है तो भिन्न २ इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये हुए विषय को जिह्वा प्रकट कैसे कर देती है ? अत एक दूसरी इन्द्रिय का पारस्परिक सम्बन्ध यह सिद्ध करता है कि आत्मा ही इन्द्रियों के वातायनों से विषय ग्रहण करता और उनका प्रयोग करता है। इन्हें आत्मा का बोध नहीं होता, क्योंकि ये स्वय आत्मा द्वारा सचालित होती हैं—ठीक उसी तरह, जिस तरह आप घडी, मोटर आदि को सचालित करते हैं किन्तु घडी, मोटर आपके विषय में कुछ नहीं कह सकतीं। इन्हीं इन्द्रियों को यदि आत्मा का सहयोग प्राप्त न हो तो ये जड रूप बन जाय। अत अपने २ गुणों के कारण दोनों का पृथक् २ अस्तित्व स्वत सिद्ध होता है।

यदि यह कल्पना की जावे कि शरीरोत्पत्ति के साथ ही शरीर में एक शक्ति पैदा होती है, जो शरीर विनाश के साथ ही विनष्ट हो जाती है जैसे आग में रखने पर वह लोहे के गोले में

सर्वत्र व्याप्त हो जाती है और पुन उसे बाहर निकाल लेने पर समाप्त हो जाती है। किन्तु यह कल्पना सर्वथा निराधार ही प्रतीत होती है। क्योंकि वस्तु का कभी भी विनाश नहीं होता, केवल रुपान्तर होता है। अत आत्मा भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों काल में विद्यमान रहता है। हम सब अनुभव करते हैं कि बाल, युवा व वृद्ध अवस्थाओं में शरीर की भिन्न २ परिणति होती रहती है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी कहा जाता है कि बारह वर्ष की अवस्था में शरीर के सभी पुद्गल परिवर्तित हो जाते हैं। फिर भी प्रत्येक अवस्था में किये हुए कार्यों पर सोचने विचारने की शक्ति व अनुभव विनष्ट नहीं होता। अत शरीर की पर्यायों में रूपान्तर होते हैं। वह सुदृढ होता है, स्वस्थ होता है, रुग्णावस्था को प्राप्त होता है और जीर्ण व क्षीण आदि होता है। इसी तरह मन की गति और विचारों के प्रवाह मे भी परिवर्तन होते जाते हैं किन्तु इन सब परिवर्तनों के बीच भी 'मैं' की अनुभूति वैसी की वैसी बनी रहती है। 'आज मैं सुखमय जीवन यापन करता हूँ, कल ही दु ख का सामना कर सकता हूँ'—इसमें 'मैं' की पर्याय बदलती हुई लक्षित होती है किन्तु सुख दु ख के नाटक का द्रष्टा अर्थात् परिवर्तनशील जगत् में चित्रित होने वाले कार्यों का साक्षी 'मैं' हमेशा एक ही रूप में रहता है। सुख दु खादि मनोविकारों में होने वाले परिवर्तनों की पर्यायें आत्मा के अस्तित्व में बाधा नहीं पहुँचा सकतीं। अत इस महान् शक्तिशाली आत्म तत्त्व को पहिचानना और

उस व्यापक शक्ति को पूर्ण प्रकाशित करना ही हमारे जीवन का प्रतीत लक्ष्य होना चाहिये। इसी शक्ति के पूर्णत्व में चरम विकास या मुक्ति का आवास रहा हुआ है। भगवान महावीर की अमर वाणी यही सन्देश सुनाती है —

एव भव ससारे ससरई, सहासुहेहिं कम्मेहिं।
जीवो पमाय बहुलो, समय गोयम् ! मा पमायसे ॥
(उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १० गा० १५)

अर्थात्—प्रमाद बहुल जीव अपने शुभाशुभ कर्मों व आत्म-स्वरूप को न पहिचानने के कारण इस प्रकार अनन्त भव चक्र में इधर से उधर पर्यटन करते है अत हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद न कर और आत्म स्वरूप को समझते हुए उस शक्ति को प्रकाशित करने में पराक्रम फोड !! उपनिषद् से भी ऐसे ही भाव झलकते है —

"आत्मैव वरि मन्तव्यो निरिध्यासितव्यो,
नान्य तोस्ति विजानत "

अर्थात् आत्मा के सम्बन्ध में मनन और चिन्तन करना ही हमारी जिज्ञासा का चरम विन्दु है। यही ज्ञान की पराकाष्ठा है। आत्मा को पहिचानना ही परमात्मपन को उपलब्ध करना है, जहा से ससार के बदलते हुए भावों का अवलोकन किया जा सके। आत्म स्वरूप को न पहिचानने के कारण ही आज ससार में इतना अज्ञानान्धकार व दु ख छाया हुआ है।

यह निश्चय है कि जब तक मनुष्य को 'मैं हूँ' की आध्यात्मिक एकता प्राप्त नहीं होगी, तब तक वह इच्छा, वासना और परस्पर विरोधी मनोविकारों का शिकार होता ही जायगा और इनका गुलाम बना ही रहेगा। मनुष्य बराबर यह सोचता रहता है कि वह स्वय को तो जानता है किन्तु अन्य पदार्थों के विषय में ही उसे सन्देह है। परन्तु बाह्य शरीर का ज्ञान आत्मा का ज्ञान नहीं है और इसीलिये आप अनबूझ रह कर वह औरों को भला किस प्रकार से बूझ सकता है?

हमारे अन्तस्तल से ध्वनित होता है कि शरीर चेतना शक्ति नहीं है, वह तो केवल आत्म प्रकाश को प्रकट करने का माध्यम मात्र है। शरीर के कोई अग काट लेने पर भी उस अनुपात से 'मैं हूँ' की अनुभूति कम नहीं होती, फिर शरीर और चेतना शक्ति का सामजस्य कैसे स्थापित किया जा सकता है? शरीर तो अणु परमाणु का पुज मात्र है, जिसे चेतना शक्ति घडी मोटर की तरह सचालित करती है। शरीर को ही चेतन मानने पर यह समझ में नहीं आता कि मृत्यु के पश्चात् शरीर यों का यों रहता है किन्तु चेतना शक्ति फिर कैसे और कहाँ लुप्त हो जाती है? अत यह मानना पडेगा कि चेतना का केन्द्र स्थान आत्मा है और शरीर और आत्मा का स्पष्ट पृथकत्व है।

जीवन में नित्य परिवर्तन होते रहते हैं और विचारों एव भावनाओं में नई क्रान्तियाँ हो जाती हैं किन्तु यदि हम आत्म तत्व को गभीरता पूर्वक समझने का प्रयास करेंगे तो ज्ञात

होगा कि मूलत जीवन में एक ऐसा केन्द्र स्थल है, जो शाश्वत, स्थिर और शान्त है और जिसे विशाल प्रभजन, महान् भूकम्प, प्रचड ज्वालामुखी तथा भौतिक युग के सहारक शस्त्र और बम भी स्पर्श तक नहीं कर सकते। अशान्ति का ताडव नर्तन भी आत्म शान्ति को बाधित नहीं कर सकता। चडकौशिक सर्प के विषपूर्ण नैत्र और तीक्ष्ण दन्त भगवान् महावीर की शान्त व धीर मुद्रा को तनिक भी विचलित नहीं कर सके। अर्जुनमाली का भयकर वज्र ध्यानस्थ सेठ सुदर्शन को आघात न पहुँचा सका। मूला के द्वारा हाथ पैर में जटिल बेडियां डालने के बाद भी चन्दनबाला की आत्मिक प्रगति न रुकी। इस युग में तो महात्मा गांधी के नेतृत्व में सत्याग्रहियों ने हसते हसते गोलियों और लाठियों के क्रूर वार सहन किये। यह अविचल शक्ति ही दार्शनिकों का ब्रह्म, ईश्वर और आत्मा है। यह भव्य तेज भौतिक पदार्थों का नहीं, अपितु पूर्ण ईश्वरत्व का बीज रूप आतमा का ही प्रभाव है।

आत्म शक्ति का अन्तर्दर्शन ही व्यक्ति विकास की कुजी है। आत्मिक शक्ति को प्रकाशित करने का अपूर्व साधन है—आध्यातमिक ज्ञान। आज के जडवादी युग ने इस ज्ञान को लुप्त करने के प्रयास किये है किन्तु भारतीय सस्कृति पटल से इसे मिटाया नहीं जा सकता और जिस दिन यह पुनीत स्थिति पूर्ण रूप से हमारे हृदयों से लुप्त हो जायगी, उस दिन एक सास्कृतिक प्रलय आयगा, जो मानवता को क्रूर बर्बरता में